माध्यम

निमित्तमात्र भव

वर्ष १ अंक ११
मार्च १९६५

सम्पादक
बालकृष्ण राव

सहायक सम्पादक
बंकुनाथ मेहरोत्रा
बद्रीनाथ तिवारी

सम्पादकीय पता
पोस्ट बाक्स नं० १०
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिंदी साहित्य सम्मेलन
इलाहाबाद

मूल्य
एक प्रति एक रुपया
वार्षिक दस रुपया

लेख

कविताएँ

कहानियाँ

माध्यम

का बारहवाँ अक

प्रस्तुत कर रहा है

- नवल किशोर और काति कुमार के लेख
- विजयदेवनारायण शाही और लक्ष्मीकात वर्मा की कविताएँ
- ओमप्रकाश निर्मल का एकाकी तथा गिरिधर गोपाल की कहानी
- सहवर्ती साहित्य' स्तभ के अतर्गत असमिया की चुनी हुई रचनाएँ
- हरिवंश राय 'बच्चन' के 'अभिनव सोपान' की बालकृष्ण राव-कृत विवेचना
- 'सस्कृतियों का पारस्परिक सबधन'—मास्को में हुए एशियाई अफ्रीकी लेखक सम्मेलन का महत्वपूण गोष्ठी-प्रसंग।

सहवर्ती साहित्य

विवेचना

हिंदी जगत

आवरण-सज्जा दीनानाथ सरोदे

आवरण-चित्र लक्ष्मीचद्र

नागेश्वर लाल

नवलेखन का बुनियादी दर्शन

हिंदी के कुछ आरामतलब प्रोफेसर अक्सर यह कहते हुए पाये जाते हैं कि वे नवलेखन को समझना चाहते है। यह नही कि वे ईमानदारी से यह स्वीकार कर रहे हो कि किसी के सहारे के बिना वे उसे समझने मे असमर्थ हे। मुझे शका होती है कि वे अप्रत्यक्ष रूप से बतलाना चाहते है कि नवलेखन मे समझने के लिए कुछ है ही नही, ओर इसलिए वे एक तरह से चुनौती देते हे कि कोई समझा दे तो जानें! उनके लिए कुछ लिखना बेकार है, क्योकि या तो वे सचमुच समझने योग्य नही हैं, या समझना नही चाहते। उन प्रोफेसरो के अलावा एक बहुत बडा तरुण-वर्ग है जिसे नवलेखन के प्रति उत्कठा है। वह नवलेखन को समझना चाहता है और फिर भी समझने मे पूरी तरह समर्थ नही हो पाता। बात यह है कि हर पढे-लिखे व्यक्ति मे कविता या कहानी का एक नक्शा होता है जो पढी हुई रचनाओ से बना हुआ रहता है, उस नक्शे के सहारे ही नयी रचना की जाँच भी होती है। उस तरुणवर्ग ने विश्वविद्यालयो मे जो नक्शा पाया उससे नवलेखन का सामजस्य नही बैठता और बैठ भी नही सकता, क्योकि वह उन ग्रथो से बना हुआ हे जिनमे दीमके न लगे तो पढाये न जाये। इसके बावजूद नवलेखन अपनी जीवतता से प्रभावित करता है तो बेचैनी होती हे कि क्या कारण है कि प्रतिष्ठित प्रतिमानो के प्रतिकूल होने पर भी उसमे इतनी शक्ति है। उस तरुणवर्ग के लिए लिखना जरूरी है।

लिखना इसलिए भी जरूरी है कि अब तक नवलेखन के सबध मे जिन्होने भी लिखा है वे प्राय स्वय इसके रचनात्मक प्रतिनिधि रहे है। इस कारण वे आपेक्षिक तटस्थता नही बरत सके, और अपने वैशिष्ट्य का उचित प्रतिपादन करते हुए भी एक पूरे युग का सश्लिष्ट शील-निरूपण न कर सके। कभी कुछ भ्रामक बाते फैलायी गइ और कभी प्रासगिक को ही प्रमुख मानने की भूल की गयी। इन बातो से भी नवलेखन को समझने मे थोडी कठिनाई हुई। इसमे विशेष दोष उनका है जो अपने को आलोचक मानते रहे है। उन्होने आलोचक का दायित्व नही निभाया। वे या तो चुप रहे या धुआँ फैलाते रहे। वे यह भूल गये कि सभ्य समाज मे किसी को तब तक अट-सट नही कहा जाता जब तक उसे अच्छी तरह समझ न लिया जाय, और जो समझ नही सकता, वह कुछ कह भी नही सकता। यह तो अलग रहा, आलोचक यह मामूली सिद्धात भी स्मरण न रख सके कि कोई भी आदर्श अपौरुषेय नही है और वह रची जाती हुई हर नई कविता या कहानी को प्रभावित करता है तो उससे प्रभावित भी होता है। वे पहले के आदर्श के मूर्तिपूजक बने,

नवलेखन को अवरुद्ध करने के लिए चीखे, और इस प्रकार नयी पीढी के असमंजस को कम करने के बदले और अधिक बढाते रहे।

मै नवलेखन के संबंध मे जो-कुछ कहना चाहता हूँ उसे कुछ भ्रांतियो और गोल मटोल बातो के निषेध से शुरू करना सुविधाजनक होगा। एक बडी भ्रांति तो यह है कि अनास्था ही नवलेखन की प्रेरणा है। निषेध से किसी महत्वपूर्ण सृजन का प्रवर्तन संभव नही है। यो नव-लेखन मे अनास्था का स्वर है और उसी तरह है जिस तरह हर युग मे रहता है। तुलसीदास ने 'प्राकृतजन-गुन गान' का निषेध किया, सूरदास ने निर्गुण का निषेध किया, छायावादियो ने रीति का निषेध किया। क्या उन्हे अनास्थावादी कहते हैं? यह कहना तो और भी अधिक आपत्ति-जनक है कि नवलेखन ने जीवन के हर आदर्श का निषेध कर के साहित्य को विशुद्ध शिल्पतंत्र बनाना चाहा। बात यह है कि हर युग की तरह नवलेखन ने भी कुछ नये आदर्शों के लिए पहले के आदर्शो के प्रति अनास्था अपनायी। अनास्था पर जोर देना अप्रासंगिक है और गलत है। प्रश्न है कि वे नये आदर्श कौन से है जिन्हे नवलेखन ने विधेय के रूप मे स्वीकार किया है? कहा जाने लगा है कि वह आधुनिक भावबोध है। मेरी समझ मे 'आधुनिक भावबोध' एक गोल मटोल बात है। इसकी व्याप्ति भी बहुत अधिक है। इसके बदले अर्थपूर्ण शब्द के प्रयोग की आव श्यकता है।

किसी-किसी ने हारे हुए और टूटे हुए व्यक्ति के अनुभव को आधुनिक भावबोध कहा है तो दूसरो ने हर प्रकार की वर्जना से परे की निश्शंक स्वच्छंदता को, कुछ और है जो उसे अप्रति-श्रुति मानना चाहते है। ये बाते गलत न होने पर भी हाशिये की है और इन्हे बहुत अधिक महत्व देना अनपेक्षित है। जहा तक किसी विचार-दर्शन का प्रश्न है, नवलेखन का भावबोध निषेधात्मक न होने के बावजूद प्रत्यक्ष एकरूपता से परे है। उसमे वे भी योगदान कर रहे हैं जो मार्क्स को मसीहा मानते है और वे भी जो उसे मानवता का सबसे बडा दुर्भाग्य समझते है। उनके साथ वे भी है जो सौम्य गाधीवादी विचारो के प्रति निष्ठावान है और वे भी जो उग्र क्रांति-चेतना के पक्षधर हैं। उन्ही के समान वे भी है जो कामू और सार्त्र के प्रशंसक है और वे भी जो पाउंड और इलियट से अनुप्राणित है, और रूमानी भावुकता के प्रेमी भी उससे परहेज नही कर रहे जब कि भावुकता के कट्टर विरोधी भी उसमे अपनी अर्थपूर्ण भूमिका रखते है। इतना अधिक वैविध्य, यहा तक कि आपस मे एक दूसरे को काटने वाले विचारो की सहस्थिति से भरा हुआ वैविध्य, संभवत किसी भी एक युग मे नही मिल सकता। इनमें से किसी भी विचार का नवलेखन के विशिष्ट दर्शन के रूप मे मान्यता देना भ्रामक है। इसके विपरीत, वैविध्य को देख कर व्यक्तित्व या चरित्र के संबंध मे संदेह करना भी छिछली दृष्टिभंगी का सूचक है। श्रेयस्कर तो यह है कि इस वैविध्य के भीतर से बुनियादी दर्शन का संधान हो और यह देखा जाय कि उसके आधार पर अन्विति का सूत्र प्राप्त होता है या नही। नही प्राप्त हो तब माना जा सकता है कि नवलेखन विषम तत्वो की अराजक प्रदर्शनी है और परिणामत उसका कोई व्यक्तित्व नही है।

क्या अन्विति का सूत्र नही मिलता? गहराई मे पैठ कर देखने से अवश्य मिलता है। वह सूत्र अनुभववाद का है। साहित्य के समग्र स्वरूप के संबंध मे नवलेखन ने अनुभववाद को बुनि-

यादी तत्व-दर्शन के रूप मे अपना रखा है। अनुभववाद का क्या अभिप्राय है? कभी छायावाद को भी 'हृदयवाद' या 'अनुभववाद' कहा गया था और तब उसका अर्थ अतत भावुकतावाद था। नवलेखन ने भावुकतावाद के अर्थ मे अनुभववाद को नही अपनाया है। उसके लिए, जो अनुभव होता है—इद्रियो के माध्यम से सहज अनुभव होता है, वही अभीष्ट है। उसके साथ यह भी अभीष्ट है कि जो जैसा अनुभव होता है वह सप्रेषण मे भी वैसा ही अनुभव हो। पहले अनुभव के विषयो पर प्रतिबध था। कुछ खास तरह की गिनी-चुनी वस्तुएँ थी जिनसे सबधित निर्दिष्ट अनुभव ही साहित्य के लिए इष्टकर माने जाते थे। उनके अलावा साहित्यकार के लिए और ससार नही होता था। कुछ अननुभूत बाते थी जो बार-बार दोहरायी जाती थी। यह एक विलक्षण दृष्टिविपर्यय था कि अनुभवगम्य अकथ्य था और अनुभव से अगम्य की विशद विवृत्ति होती थी। नवलेखन ने साहित्यकार की अनुभवशीलता को कडी कसौटी के रूप मे ग्रहण कर लिया है।

अनुभवशीलता से कई मान्यताओ की स्वाभाविक रूप से उद्भावना हुई है। अब उदात्त की बात नही रही, भव्य और दिव्य का जादू टूट गया और सौदर्य की लोकोत्तर कल्पना निष्प्रभ हो गयी। जो कुछ छुआ और पकडा जा सकता है, जो चुभ सकता है और गुदगुदी पैदा कर सकता है, वह रगीन हो या मटमैला, गोरा हो या काला, साहित्य के लिए विधेय हो गया। अनुभव के विषय का यथावत चित्रण क्रातिकारी महत्व की घटना है। इसे सास्कृतिक इतिहास मे नये अध्याय के सूत्रपात के रूप मे देखना श्रेयस्कर है। इससे साहित्यकार पर युग-युग से पडे रूढ ससारो का दुवह भार हटा, उसने उन बातो को लिखने से इकार किया जिन्हे अनुभव नही कर सकता और जिन्हे अनुभव करता है उनपर अपनी कल्पनाओ का आरोप कर के उनके स्वरूप को बेपहचान बना देने की कृत्रिम कलाबाजी से परहेज शुरू किया। उसने जो कुछ सोचा उसे अनुभव करके देख लेने पर ही लिखा। केवल सोचना किसी काम का न रहा, सोचने से मानना या मानने से सोचना बीते युग का सस्कार हो गया। प्रत्यक्ष —आँखो के सामने या समस्त इद्रियो के सामने फैला हुआ प्रत्यक्ष, उसका अशेष क्षेत्र हुआ और उसने उस क्षेत्र के एक अनुभव को उसी क्षेत्र के दूसरे अनुभव के सहारे अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली बनाते हुए देखा-दिखलाया। परिणामस्वरूप उसने अनुभवगर्भ बिबविधान को अपना साधन बनाया और पहले से प्रचलित अमूर्त या लोकोत्तर अर्थव्यजक प्रतीक-पद्धति की उपेक्षा की। जब अपने भीतर फैले हुए मानसिक जगत के विशिष्ट चित्रो या बिबो को स्वप्न या आसग के सदर्भ से चुना तब कुछ दूर तक प्रतीक-पद्धति अपनाते हुए भी अतत बिंबविधान के लिए ही सजग रहा।

पहले के साहित्यकार क्या करते थे? उन्हे 'मिथो' और 'लीजेडो' की, कविप्रसिद्धियो और ऊहाओ की समृद्ध विरासत मिली हुई रहती थी। वे एक स्तर पर अनुभव ढूढते थे और दूसरे स्तर पर उस विरासत से एक प्रसग चुन कर उस अनुभव को अपने से या उसके प्रकृत प्रेरक-सूत्र से विच्छिन्न करते हुए प्रकट कर देते थे। इससे कला के लिए अपेक्षित निर्वैयक्तिकता तो सहज ही सिद्ध हो जाती थी पर एक भारी त्रुटि भी पैदा हो जाती थी। किसी अनुभव का कोई वैशिष्ट्य नही रह पाता था, कह सकते है कि वह अपनी बुनियादी प्रकृति खो देता था। नवलेखन

ने अनुभव को उसकी बुनियादी प्रकृति के साथ चित्रित करने की प्रवृत्ति अपनायी। इससे रचना प्रक्रिया के द्वैध का, अनुभव के एक स्तर और अभिव्यक्ति के दूसरे स्तर का अत हो गया और इस प्रकार साहित्य म सावयव जीवतता की सभावना बढी। उस सभावना के मेल म ही नवलेखन की रूप-चेतना और शब्दवृत्ति भी है। रूप और शब्द शोभा और शृगार के नही रहे, उनमे वही रग झलमलाया जाने लगा जो अनभव का रहा। फिजूल का बोझिल वणन, भाषा के निरथक आवेश से भरा हुआ प्रलाप, अनिष्टकर उक्ति वैचित्र्य और इस ढग के दूसरे कौशलो का महत्व क्रमश कम हुआ। साहित्यकार ने शब्दो को एक अनिवाय लाचारी के तौर पर लिया, इष्ट रहा शब्दो को वस्तु-चित्र या यथाथ कठरवर का पर्याय बना देना। वस्तुत नवलेखन ने ही पहली बार साहित्य को एक जीवत समग्रता के रूप मे प्रतिष्ठित किया—ऐसी समग्रता के रूप मे जिसके अतर्गत वस्तु या कथ्य ही कलात्मक-विशदन की प्रक्रिया से शिल्प में सहज अतरित हो जाता है।

इन सबसे जो बहुत बडी बात हुई वह यह कि हर प्रकार की वजना और प्रतिबध के परे स्वतत्र दृष्टिकोण से मनुष्य और उसके अनुभव तथा आचरण को, उसके इदगिद के परिवेश को ग्रहण करने की प्रवृत्ति उभरी। मनुष्य को कृत्रिम आरोपो से मुक्ति मिली और वह अपनी प्रकृत सीमाओ और सभावनाओ के साथ चित्रण योग्य माना जाने लगा। सामान्य मनुष्य, जो न देव है न दैत्य, जो खालिस मनुष्य है प्यार के एक चुबन के लिए तडपने वाला, रोटी के एक टुकडे के लिए तरसने वाला, एक ठोकर मे टूट कर गिर पडने वाला और एक मुस्कराहट से जी उठने वाला, वह मनुष्य अभ्यथना का विषय हुआ। सामान्य मनुष्य को प्रगतिवाद ने भी अभीष्ट माना था, उसके भी पहले, द्विवेदीयुग ने भी। प्रेमचद ने कहा था कि उनके घर मे झाड़ू देने वाला भगी भी साहित्य का वण्य हो सकता है। इसी प्रकार, गुप्त जी ने कैकेयी का नवमूल्याकन करते हुए प्रकृत सतान-प्रेम को आदश नैतिक चेतना के ऊपर महत्व दिया था। मैं समझता हूँ कि सामान्य मनुष्य का पक्ष निपट आकस्मिक नही है, उसका सूत्रपात आधुनिक चेतना के प्रथम स्फुरण के साथ होता है। जिस दिन वैज्ञानिक चितन के सदभ मे अनभव और आचरण की व्याख्या के लिए परिस्थितियो को कारण के रूप मे निर्दिष्ट किया गया और यह स्वीकार किया गया कि मनुष्य अपने प्रासगिक परिवेश से विवश है, उस दिन सस्कृति के समग्र क्षेत्र को प्रभावित और परिवर्तित करने वाली महान क्राति का प्रवतन हुआ। नवलेखन उस क्राति की प्रौढ परिणति की भूमिका मे है। अब सामान्य मनुष्य न उदाहरण है, न निदशन, वह कोई 'मिथ' भी नही है। जिन्हे प्रगति इष्ट थी उन्होने मजदूर और किसान की कुछ धारणाओ के शब्द चित्र बनाये और इस प्रकार सच्चे मजदूर और किसान से परे रह गये। उनके पहले प्रेमचद ने, और उनके समान दूसरो ने भी, 'गोदान' और 'कफन' जैसी कुछ कृतियो को छोड कर, प्राय सामान्य मनुष्य को अपनी आदश धारणाओ के आरोप से मिशनरी लबादे मे छिपा दिया था। यो यह तो मानना ही है कि उन्होने अपने-अपने ढग से साथक उद्योग किया था और, उस समय के इतिहास की भूमिका को देखते हुए, कह सकते हैं कि वे जितना कर सके उससे अधिक सभवत नही कर सकते थे। उनकी परम्परा का सहज अग्रगमन, उचित परिष्कार और परिवद्धन के साथ, नवलेखन मे होता है। नवलेखन न

अज्ञात-कुलशील है, न बाहर से आया हुआ कोई कलमी पौधा, वह अपनी मिट्टी से विकसित हुआ है।

अब कोई व्यक्ति या अनुभव वैसा ही दिखलाया जाता है जैसा वह है और सभवत दी हुई परिस्थितियो मे जैसा वह हो सकता है। कल्पना के सहारे किसी इतर भवितव्य की सभावना रद्द हो गयी है। कोई किसान या मजदूर हो, किरानी या अफसर हो, शिक्षक या नेता हो—कोई भी हो, वह अपने व्यक्तित्व और कृतित्व मे, अनुभव और आचरण मे यथावत चित्रित किया जा सके, इसकी टेक अपना ली गयी। नरेन किरानी है या मँहगू मजदूर है तो इतना ही काफी नही, नरेन किरानी होने के बावजूद नरेन है और मँहगू मजदूर होने के बावजूद मँहगू है और इसलिए जरूरी समझा गया कि नरेनपन और मँहगूपन की उपेक्षा कर के 'मिथ' का पुनरुत्पादन न हो। इस कारण साहित्य मे व्यक्ति और अनुभव सामान्य यथार्थ के स्तर के होने पर भी विशिष्ट कर के सामने लाये गये। कही कही व्यक्तिवादी विरल वैचित्र्य भले आ गया हो, साधारणत बहुत्तर सभावना के साथ विशिष्ट स्वरूप का सामजस्य अभीष्ट रहा है। इस तरह नवलेखन नैतिक और कलात्मक आदर्शवाद के समस्त आडबरो से अलग रहने के लिए पूरी तरह सचेष्ट है और यह कोई भी देख सकता है कि उसने बहुत दूर तक अपने को शहरी 'एजेसी' से, चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक, पर्याप्त स्वतन्त्र कर लिया है। उसका आधुनिक बोध अतत मनुष्य का औचित्यबोध—अनुभवो से प्रवर्तित और उन्ही से प्रतिपादित औचित्यबोध है।

इस प्रसग मे एक बात ऐसी है जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। नवलेखन मे अधिकतर वही लिखा जा रहा है जिसे उसके प्रतिनिधि घटित या मानसिक स्तर पर भोगे और झले हुए है। इसके फलस्वरूप उसमे उत्कट जीवतता और वेधक प्रभावोत्पादकता है। वह ईमानदारी का साहित्य है और इस मानी मे बेमिसाल है। पर उसकी ईमानदारी का दायरा बहुत छोटा है। लेखक अपने-अपने दायरे मे जमे हुए हैं। बहुधा वे मध्यवर्ग के व्यक्तियो और उनके अनुभवो और आचरणो का चित्रण करते है। जब गाँव की आचलिक भूमिका दिखलाते है तो लगता है कि रूढ सस्कारो का प्रदर्शन करते हुए नृतत्व का नुमाइशी अजायबघर बना रहे है। सस्कृति की गत्वर प्रकृति के साथ गाँव का चित्रण कम हो रहा है। बडे आश्चर्य का विषय तो यह है कि शहरी मध्यवर्ग की बात हो या गाँव की, अक्सर 'सेक्स' की अधिक चर्चा हो रही है। इस कारण जहाँ-तहाँ व्यक्तिगत 'मूडो' को प्रधानता दी जाती है। मेरी समझ मे साहित्यकार का एक ही दायरे मे, एक ही प्रकार के अनुभव मे बँध जाना इष्टकर नही है। उसमे दूसरो मे पैठने का और उनके अनुभवो को भोगने का सामर्थ्य होना चाहिए। अब यह काल्पनिक परकायप्रवेश के टोटके से नही हो सकता, न सहज अनुभूति के रहस्यमय उन्मेष से ही। इस तरह होने पर फिर धारणाओ का आरोप होने लगेगा। इसके लिए यथार्थ पर्यवेक्षण की, और उसके भी आगे, सहयोग और सहभोग की आवश्यकता है। इसे श्रमसाध्य मान कर छोडते जाने से प्रौढता के विकास मे अवाछित विलब हो सकता है। यह समझना स्वाभाविक है कि दूसरे दायरो के अननुभूत के लिखे जाने से एक ही तरह का अनुभूत लिखा जाना भी अच्छा है, पर यह तो स्मरण रखना ही है कि उसमे इतनी अधिक व्यक्तिगत ईमानदारी न हो कि जाँची और परखी न जा सके।

मेरे विचार से नवलेखन के मूल्यांकन का अभी समय नहीं है। यों उसमें कुछ नकलची भी पांचवें सवार की तरह मिले हुए हैं। पर उसके प्रकृत प्रतिनिधियों से आशा होती है कि वे महत् कृति की रचना करने में समर्थ हो सकेंगे, क्योंकि उनके पास प्रचुर कलात्मक साधन तो है ही, मनुष्यनिष्ठ अनुभववादी दर्शन भी है। नवलेखन के सृजन का औसत स्तर किसी भी अन्य युग के सृजन के औसत स्तर से कम श्रेष्ठ नहीं है। उसकी सबसे बड़ी पूंजी यह है कि वह प्रबुद्ध व्यक्ति को अपने में संलग्न करता है। इसलिए कि वह न स्वप्नों का निरूपण करता है, न झूठे उद्गारों का प्रलाप, न नैतिक उपदेशों का प्रवचन। यहां तक कि उसने आत्माभिव्यक्ति की वंचना भी छोड़ दी है। वह अनुभव को उसके प्रकृत वस्तुनिष्ठ प्रसंग में अंतर्भूत कर के यों सामने लाता है कि रचना प्रेरक हो जाती है और इस प्रकार वह आग की जलन बतलाने का नहीं, जला कर जलन अनुभव कराने का आग्रह करता है। इससे वह दूसरों के लिए अपने-आपको देखने के निमित्त प्रत्यवदर्शन का, आत्मान्वेषण का, स्मृति के अभ्यास का साधन बनना श्रेयस्कर मानता है। बहुत संभव है कि उसकी मूल्यभावना सामाजिक दृष्टि से उतनी स्पष्ट और पुष्ट न प्रतीत हो फिर भी यह तो है ही कि कोई भी उसके चित्रों में अपना चेहरा देख कर अपनी समस्या की तीव्र अनुभूति पा सकता है।

नवलेखन में कहीं व्यापक समस्या का चित्रण है तो श्रेष्ठ कलात्मक संकेतों के सहारे जिससे प्रत्यक्ष और प्रतीक का पूर्ण एकात्म स्थापित हो जाता है। 'कनुप्रिया' में राधा की ओर से कृष्ण की सेनाओं के संदर्भ में वृंदावन की आमों की डालों के काटे जाने का उल्लेख वर्तमान युग की युद्ध-समस्या को निर्दिष्ट करता है। उसके प्रतिकूल, पंत की 'नौकाविहार' कविता का 'शाश्वत जीवन नौकाविहार' शुष्क ज्यामितिक निष्कर्ष है, और वहीं क्यों, छायावाद का श्रेष्ठतम काव्य 'कामायनी' अपने दार्शनिक स्थलों पर पद्यबद्ध विरस आलंकारिक अभ्यास से बहुत भिन्न नहीं हो पाया है। नवलेखन ने मान लिया है कि गद्य में जो कहा जा सकता है वह गद्य में ही कहा जाना चाहिए और साहित्य के लिए मनुष्य के व्यक्तित्व का धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक और इस प्रकार का हर पहलू उपादेय हो सकता है पर उसे अनुभव के माध्यम से ही आना चाहिए।

—हिंदी विभाग,
रांची विश्वविद्यालय,
रांची।

राम गोपाल

प्रशासन और हिंदी विगत चौदह वर्षो की संक्षिप्त समीक्षा

अहिंदी राज्यो मे राष्ट्रीय भाषा कटु विवाद का विषय बन गयी है। उसके पक्ष-विपक्ष मे बहुत-से तर्क दिये गये है। विवाद म तर्कहीन रोष और क्षेत्रीय भावुकता भी है। यही कारण है कि विगत चौदह वर्षो मे हिंदी ने कोई उत्साहवर्धक प्रगति नही की, और संविधान-निर्माताओं की यह आशा गलत सिद्ध हुई कि २६ जनवरी १९६५ ई० तक अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी आसीन कर दी जायगी। पर्याप्त प्रगति की कमी के अतिरिक्त, जिस तथ्य ने राष्ट्रीय भाषा सबधी निर्णयो मे पृष्ठभूमि का काम किया है वह यह है कि किसी अहिंदी राज्य पर हिंदी बलपूर्वक नही लादी जा सकती। प्रस्तुत लेख मे उक्त विवाद पर विचार नही किया गया है, उसका उल्लेख केवल भूमिका के रूप मे इसलिए किया गया है कि उसको हिंदी भाषा राज्यो की राजभाषा के प्रश्न के साथ अकारण जोडा जा रहा है। प्रश्न यह है कि इन राज्यो मे, जहा तक प्रशासन का संबंध है, हिंदी अब तक अंग्रेजी का स्थान पूर्णतया क्यो नही ले पायी?

कुछ समय हुआ उत्तर प्रदेश मे हिंदी के प्रश्न पर अभूतपूर्व ढग से रोष का प्रदर्शन हुआ था। उस विवाद की महत्वपूर्ण देन यह है कि उसने हिंदी—राजभाषा—की ओर पुन ध्यान आकृष्ट कर दिया है, विषय को ताजगी और सामयिकता प्रदान कर दी है। अब से चौदह वर्ष पहले विधानमंडल ने एक विधेयक द्वारा यह संकल्प किया था कि राज्य की राजभाषा हिंदी होगी। सन १९५० अभूतपूर्व उत्साह का वर्ष था। उत्तर प्रदेश का मंत्रिमडल भी उत्साह के प्रवाह से प्रभावित हुआ और उसने हिंदी को राजभाषा घोषित ही नही किया बल्कि उसको यथासंभव राज-काज का माध्यम भी बनाना शुरू कर दिया। हिंदी मे शब्द-भडार की कमी नही थी, परंतु शासन-स्तर पर उसका प्रयोग चिरकाल से बद था, और डेढ सौ वर्ष के काल मे अंग्रेजी सरकार ने अंग्रेजी का इतना अधिक प्रचलन कर दिया था कि प्रशासन संबंधी बहुत से अंग्रेजी शब्द अशिक्षित जनता तक मे प्रचलित हो गये थे। सन १८५७ के विद्रोह के बाद से हिंदी अपना स्वाभाविक राष्ट्रीय दावा प्रस्तुत करने लगी थी, परंतु उसे सरकारी मान्यता प्राप्त नही थी इसलिए वह भाषा के उस बवडर को, जो प्रचलित अंग्रेजी शब्दो द्वारा बोलचाल की भाषा—और एक सीमा तक लिखित भाषा—को विकृत कर के जनता के सामने आया, रोक न सकी। कुछ उत्साही हिंदी-लेखको ने प्रचलित अंग्रेजी शब्दो के स्थान पर हिंदी शब्द प्रस्तुत किये, परंतु उन्होने अलग अलग

शब्दो को अपनाया। उस समय आवश्यकता यह थी कि प्रयोग मे एकरूपता लायी जाती, अर्थात दृष्टांत के लिए, 'फाइल' के लिए कोई एक ही हिंदी शब्द का प्रयोग होता। इस ओर कुछ व्यक्तियो का ध्यान तो गया, और कुछ प्रयत्न भी किया गया, परंतु कोई परिणाम नही निकला। कालातर मे ऐसा प्रतीत होने लगा कि प्रचलित अंग्रेजी शब्दो के लिए हिंदी मे शब्द ही नही है।

कुछ इस प्रकार की स्थिति मे हिंदी ने सरकार के सचिवालय मे तथा कई अन्य सरकारी विभागो मे प्रवेश किया। कई मंत्रियो तथा अफसरो ने हिंदी मे टिप्पणियाँ और आज्ञाएँ लिखना आरंभ कर दिया। एक ओर यह उत्साह था, और दूसरी ओर अंग्रेजी की परंपरा थी। अंग्रेजी के पक्ष मे जो मोह पैदा हो गया था उसका आधार यह था कि अधिकतर सरकारी अमला उसी भाषा मे अपनी बात व्यक्त कर सकते थे, बहुत से व्यक्ति तो देवनागरी जानते तक नही थे। जो जानते भी थे वे अंग्रेजी को वरीयता देना चाहते थे। उनका कहना था कि वे अंग्रेजी मे विश्वास के साथ और सही-सही लिख सकते है। हिंदी मे लिखित टिप्पणिया या आज्ञाए जब उनके पास जाती थी तब उन्हे यह अनुमान लगाना पडता था कि हिंदी के शब्द—वे शब्द जो साधारण बोलचाल मे सुनने मे कम आते है—किन अंग्रेजी शब्दो के स्थान पर प्रयोग किये गये है। इस प्रकार के अनुमान मे संदेह की गुंजाइश तो रहती है अत कभी-कभी टिप्पणी या आदेश लिखने वाले मंत्री या अधिकारी से पूछना पडता था कि क्या उसने अमुक हिंदी शब्द का प्रयोग अमुक अंग्रेजी शब्द के लिए किया है?

इस परिस्थिति से यह अनुभव तथा सुझाव स्वाभाविक रूप से निकलना चाहिए था कि प्रशासन के प्रयोग के शब्दो का एक ऐसा कोश तैयार किया जाय जिसमे उक्त कठिनाई दूर हो जाय। हिंदी क्षेत्र मे कई राज्य है जिनके पृथक प्रशासन है, यदि वे कोश तैयार करने का कार्य-भार अलग-अलग उठाते तो समस्या सुलझने के बजाय और अधिक उलझ जाती। अत केंद्रीय सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने यह काम आरंभ किया। इससे हिंदीभाषी राज्यो की सरकारो को, मुख्यत उस अमले को जो अंग्रेजी से अकाट्य रूप से बँध गया था, एक बहाना मिल गया। उसने इसे तर्क का जामा पहना कर प्रस्तुत किया। उसने कहा कि उचित यह होगा कि जब तक प्रशासकीय हिंदी तैयार न हो जाय, सरकारी कार्य का सचालन पूर्ववत अंग्रेजी मे ही किया जाय। यह तर्क एक-आध वर्ष के अनुभव के बाद सामने आया, जब हिंदी के प्रति १९५० का राष्ट्रीय उत्साह कुछ ठंडा हो चला था, और उत्साही व्यक्ति भी सोचने लगे थे कि प्रचलित अंग्रेजी शब्दो के बजाय हिंदी शब्दो को खोजने मे मस्तिष्क पर काफी जोर पडता है।

सरकारी अमले के अंग्रेजी-'प्रेम' से यह विचार पैदा होना स्वाभाविक है कि उसका अंग्रेजी भाषा का ज्ञान हिंदी की तुलना मे अधिक होगा। पर यह कोरा भ्रम है। उत्तर प्रदेश के लोगो की मातृभाषा हिंदी है, वे घर की भाति दफ्तरो मे भी हिंदी ही बोलते है। उनमे से अधिकतर तो अंग्रेजी के दो चार वाक्य भी सही-सही नही बोल सकते। जो टिप्पणिया वे अंग्रेजी मे लिखते है, उनमे भाषा की त्रुटियाँ होती हैं, सुविधा केवल यह है कि दफ्तर मे उन्हे थोडे से प्रशासकीय प्रयोग के शब्दो का ज्ञान हो जाता है जिन्हे वे दिन प्रति दिन देखते और सुनते है। हिंदी के प्रति उनका विरोध केवल इसलिए है कि वे इन अंग्रेजी शब्दो को हिंदी मे परिणत नही कर पाते। यह एक

अद्भुत तथ्य है कि जिस व्यक्ति की मातृभाषा हिंदी है, उसे सरकारी काम उस भाषा मे करने की आदत पड गयी है जिसे वह भली भाति जानता ही नही।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ थोडे-से प्रशासकीय व्यवहार के अग्रजी शब्दो के कारण हिंदी को उसका अधिकार प्राप्त नही हो रहा है। यदि सन १९५० म दूरदर्शिता से काम लिया गया होता तो इस आपत्ति को आसानी से दूर किया जा सकता था। उस समय ऐसे हिंदी शब्दो के आगे, जिनके भावार्थ स्पष्ट कराने के लिए मूल अग्रेजी शब्दो का पूछ कर भ्रम दूर किया जाता था, यदि कोष्ठ मे अग्रेजी शब्द कुछ काल तक दे दिये जाते तो वे प्रचलित हो जाते। इस युक्ति से एकरूपता अवश्य न आती—वह तो पूर्ण प्रशासकीय कोश तैयार होने पर ही आ सकती थी—परतु इतना अवश्य होता कि इन चौदह वर्षो मे सरकारी दफ्तरो मे हिंदी का प्रयोग बहुत बढ गया होता। वह हिंदी पूर्णतया शुद्ध भले ही न होती, परन्तु किसी भी तुलनात्मक दृष्टिकोण से वह उस अशुद्ध अग्रेजी से अच्छी होती जिसका प्रयोग अधिकाश सरकारी अमले आज कर रहे है। वे जिस टूटी-फूटी अग्रेजी का प्रयोग करते है, वह सन १९४७ से पहले के अग्रज अफसरो के बैरो की भाषा है, जिसमे व्याकरण के दोष तो होते ही है, उपयुक्त शब्दो का प्रयोग भी नही होता।

इस अग्रजी के कायम रखने से अमले के उच्च वर्ग की प्रतिष्ठा का प्रदर्शन अवश्य कायम रहता है। जब हिंदी के प्रयोग को प्रोत्साहन देना आरभ हुआ तब बहुत से अफसर तथा कुछ निम्न कोटि के कार्यकर्ता हिंदी से या तो अनभिज्ञ थे या कार्य-कुशलता की दृष्टि से उनका हिंदी-ज्ञान नितात अपर्याप्त था। सरकार ने यह आदेश जारी किया कि ऐसे व्यक्तियो को छ माह के भीतर हिंदी का इतना ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए कि वे दफ्तर का काम कुशलता से कर सके। आदेश का वाछनीय प्रभाव नही हुआ, अत अवधि का काल बढा दिया गया। आदेश के पालन मे फिर भी ढिलाई रही। जब यह सिलसिला चल रहा था तब उच्च वर्ग के सरकारी अमले को दो अनुभव प्राप्त हुए जिनका उसने अपने हित मे प्रयोग किया। एक तो यह कि हिंदी के प्रति उसकी आपत्ति के औचित्य को मन्त्रियो द्वारा लगभग स्वीकार कर लिया गया, और दूसरा यह कि यदि अग्रेजी के स्थान पर हिंदी का प्रयोग होने लगेगा तो वह उस तत्व से जिसके बल पर उसे उच्च पद प्राप्त हुआ था और उस प्रतिष्ठा से जो तुलनात्मक अधिक अच्छी अग्रेजी लिखने से उसे दफ्तर मे दिन प्रति दिन मिलती है, वचित हो जायगा। बहुत से अफसर ऐसे थे जिनके मातहत उनसे अच्छी हिंदी लिख सकते थे और जिनमे उपयुक्त हिंदी शब्दो का प्रयोग करने की क्षमता थी। अग्रेजी के प्रयोग मे तथ्य बिलकुल विपरीत था अच्छी अग्रेजी लिखने वाला अफसर अच्छी हिंदी लेकिन साधारण अग्रेजी लिखने वाले मातहत पर अपनी उच्च योग्यता का प्रभाव सहज मे डाल सकता था। अग्रेजी के साथ उच्च अधिकार का तत्व जुड गया है। बहुधा अफसर अपने मातहत को कुछ चुने हुए अग्रेजी शब्दो मे डॉटता है, यह परपरा उसने अग्रेज अफसरो से पायी है। इस आडबरी परपरा मे अग्रेजी ने हिंदी को, जब वह सरकारी आसन की ओर कुछ ही पग बढ पायी थी, पीछे ढकेल दिया। सन १९५० के विधेयक के पारित होने के एक-दो वर्ष बाद ही यह स्थिति पैदा हो गयी कि अधिनियम रद्दी के टुकडे के समान हो गया। प्रचार के लिए तो उसके पालन पर जोर दिया जाता था, परतु व्यवहार मे अग्रेजी का प्रयोग होता था। प्राय सभी विभागो मे टिप्पणियाँ और

आज्ञाएँ अग्रेजी मे लिखी जाती है, विरोधी दलो के भय से इतना अवश्य होता है कि जो सामग्री विधान सभा के समक्ष जाती है, वह हिंदी मे तैयार करायी जाती है—अर्थात अग्रेजी से हिंदी मे अनुवाद। एक-दो विभागो के विषय मे यह दावा अवश्य किया जाता है कि उनका सपूर्ण काय हिंदी के माध्यम से सचालित होता है। एक ओर इस छोटी सी प्रगति का दावा है, और दूसरी ओर वह दुखात चित्र है जिसकी सक्षिप्त झाँकी हम ऊपर देख चुके है।

सरकारी विभागो की मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया विद्यालयो पर भी हुई। हिंदी-उत्साह के प्रारभिक वर्षों मे स्कूलो मे अग्रेजी का महत्व कम कर दिया गया था, और उसका पठन कक्षा ३ के बजाय कक्षा ६ से आरभ होने लगा था। इस प्रसग मे यह तो स्वीकार करना पडेगा कि अग्रेजी भाषा का अपना महत्व है, अतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनो। राष्ट्रीय स्तर पर महत्व इसलिए है कि वह केंद्र की राजभाषा है, और २६ जनवरी १९६५ के बाद भी राजभाषा के रूप मे रहेगी। अत उत्तर प्रदेश सरकार ने अनुभव से यह सीख ली कि स्कूलो मे अग्रेजी का महत्व कम करने से इस प्रदेश के नवयुवक केंद्रीय सेवाओ की प्रतियोगिता परीक्षाओ मे पर्याप्त सख्या मे उत्तीर्ण नही हो रहे है। बात व्यावहारिक थी। दूसरे, स्कूलो मे अग्रेजी को पुन महत्व देने से हिंदी को कुछ हानि नही हुई, बल्कि राज्य के जन सेवा आयोग ने हिंदी को उत्तरोत्तर अधिक महत्व दिया।

केंद्र का अग्रेजी के प्रति पक्षपात भले ही हो, परतु एक प्रबल तथ्य तो उसके पक्ष मे है ही—अहिंदी राज्यो की जनता के एक शिक्षित वर्ग द्वारा हिंदी का घोर विरोध किया जा रहा है। दूसरा तथ्य यह भी है कि वहा हिंदी का प्रचार भी इतना नही हो पाया है जितना राष्ट्रभाषा के रूप मे होना चाहिए था। ये तथ्य निर्णायक नही माने जा सकते, परतु इनका प्रयोग विवाद को बल देने के लिए तो किया ही जाता है। भाषा के मामले मे सविधान ने भी केंद्र को राज्यो से भिन्न माना है, वहा २६ जनवरी १९६५ तक के १५ वर्षों की अवधि मे अग्रजी को अनिवार्य रखा गया है, जबकि राज्यो के विषय मे यह स्पष्ट उपबध है कि यदि वे चाहे तो क्षेत्रीय भाषा या भाषाओ को या हिंदी को राजभाषा का स्थान दे सकते है। सविधान के इसी अनुच्छेद (३४५) के अतगत उत्तर प्रदेश तथा अन्य हिंदीभाषी राज्यो ने कानून द्वारा अग्रेजी का स्थान हिंदी को प्रदान किया। सविधान ने राज्यो के लिए अग्रजी को अनिवार्य नही समझा, क्योकि वहाँ राज्यभाषा के माध्यम को आसानी से अपनाया जा सकता था। यह भी कहा जा सकता है कि उक्त अनुच्छेद से सविधान के निर्माताओ की यह आकाक्षा प्रत्यक्ष प्रकट होती है कि हिंदीभाषी (तथा सभवत अन्य) राज्यो मे हिंदी को शीघ्रातिशीघ्र राजपद पर आसीन कर दिया जाय। सविधान ने हिंदी को सपूर्ण भारत की राष्ट्रीय भाषा घोषित किया है, अग्रेजी के प्रयोग की आज्ञा एक सीमित काल के लिए ही है। इससे यह निष्कर्ष स्वत निकलता है कि सविधान के उपबधो को कार्यान्वित करने का काय राज्यो मे लगन के साथ होना चाहिए। इन चौदह वर्षों मे हिंदीभाषी राज्यो की सरकारो ने सविधान की धारणा के विरुद्ध आचरण किया है। यदि ये राज्य भी राष्ट्रीय भाषा के प्रति उदासीन रहेगे तब अहिंदी राज्यो से हिंदी के प्रति दायित्व निभाने की आशा करना व्यर्थ है।

—'शक्ति सदन', मोतीनगर, लखनऊ।

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

गीत

सास पर जा तैरता ह फूल
उसका गीत
किसको दूँ

परिधि के भीतर खडा ससार
परिधि के बाहर कही कुछ जल रहा है
उड रहे अगार

मै कि आँचल भर रहा हूँ
सपदा सवीत
किसको दू

समय का अभिलेख है ससार
मे कही अनजान स्थल पर प्रश्न-चिन्हित
एक शून्य प्रकार

धडकनो ने पा लिया जो हृदय
शब्दातीत
किसको दू

शव जला कर मौन है ससार
नियति तिमिरावृत मनाती
भस्म का त्योहार

भस्म मे मुझको मिला जो शिव
स्वयनिर्णीत
किसको दू

—

३ हार्डिंज रोड, पटना-१।

भवानी प्रसाद मिश्र

अत.सलिला

कुछ भौतिक, कुछ मानसिक से तुम——
कुछ किरन, कुछ कुकुम——
बैठे हो हिले बिना मन मे मेरे,
जैसे गुलाब कोई खिले बिना
भर दे वातावरण अपनी सुगध से,
विचार कोई गीत बने बिना
रच जाये जैसे प्राणो मे अपनी हिना,
भर दे साँसो म अपना छद !

कुछ किरण, कुछ धूप,
कुछ पकड मे आने जैसा रूप,
कुछ जड, कुछ जगम,
यह सरस्वती-सगम
किसको समझाऊँ,
ओठो पर कैसे लाऊ,
आकृति वह झुटपुट मे पडी हुई,
चुपके मे जड जिसकी,
जो सूने मे बडी हुई !
चकित क्यो करूँ उसको
खीच कर चकाचौध मे !
सौरभ को पखरी दू,
छद को प्राण दू,
अत सलिला हो तुम
तुम्हे गगाजमुनी परिधान दू !

आई० जेड ४, सरोजिनी नगर,
नयी दिल्ली—३ ।

स्व० देवेन गुप्त

यहाँ से वहाँ तक

हिंदी के नवोदित युवा साहित्यकार श्री देवेन गुप्त ने कहानी, कविता और चित्रकला के क्षेत्र मे अपना स्थान बनाना प्रारंभ ही किया था कि गत २० दिसबर को अचानक ही उनका निधन हो गया। 'माध्यम' परिवार उनके इस असामयिक निधन पर हार्दिक सवेदना प्रकट करता है और उनके अग्रज श्री धर्मेंद्र गुप्त द्वारा प्रेषित उनकी एक कविता प्रस्तुत कर रहा है।

यहा से वहा तक
वहा से यहा तक—
  सिर्फ अधकार और मै हूँ।
इस दूकान पर भी
उस दूकान पर भी—
  फैलता उधार और मै हू।

घिरती सी शाम!
  रोज थाम जाती है,
  खिलती सी सुबह—
लेकिन ना काम। इसपर भी तोहमत यह,
मै ही बदनाम—
  टूटता खुमार और मै हूँ।

दायी तरफ—
झूठा व्यवहार और मै हू।
बायी तरफ—
जूठा-सा प्यार और मै हूँ।

नीचे परछाई है।
कही भी उजाला नही—
  बस, सिर्फ अंधकार और मै हूँ!

—द्वारा, श्री धर्मेंद्र गुप्त,
किशनलाल चाडक का मकान,
सरदार शहर (राजस्थान)।

फादर आई० ए० एक्सट्रॉस

अखण्ड मानवतावाद

यह अखण्ड मत है कि अपनी प्रकृति की सपूर्णता मे मनुष्य का निर्माण एक काया तथा एक आत्मा द्वारा हुआ है। चूंकि ईसाई लोग ईश्वर के अवतार मे विश्वास रखते है तथा ईसा मसीह को, जिनकी एक मानवीय काया थी, ईश्वर का परम अवतार मानते है, इस कारण वे शरीर तथा इसके तत्वो को बुरा नही मान सकते। ईसाई दर्शन मे मनुष्य के शरीर को भी उसकी उपयुक्त महत्ता दी जाती है। मनुष्य के जीवन की समृद्ध जटिलता अपने शारीरिक तथा आत्मिक कार्य-कलापो मे, कला, शिल्प, मनन तथा धार्मिक भावनाओ के साथ एक सपूर्णता मे गुथी-मुथी है। मनुष्य की प्रकृति का कोई भी भाग न दमन किया जा सकता है और न उसका उत्सर्ग ही हो सकता है। यह सघटन सासारिक कार्यकलापो का उच्च कोटि की भावनाओ से तथा शरीर और इसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियो का आत्मा के आधीन होने की और अतत आत्मा का ईश्वर के आधीन होने की अपेक्षा रखता है। यह सामजस्य अत्यत खीचतान की स्थिति मे होता है क्योकि शरीर और आत्मा एक दूसरे के विरोध मे रहते है। अस्तु इस समन्वय को बनाये रखने के लिए सतत आत्मिक इच्छाशक्ति का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार वैराग्य, तपस्या का उद्देश्य शरीर को कष्ट पहुँचा कर उसका समुच्छेदन करना न हो कर उसका उचित नियत्रण करना होता है। मनुष्य की सारी कार्यकुशलता का आदर किया जाता है तथा उनके विकास का पूरा अवसर प्राप्त होता है, परतु मनुष्य की अखडता के समन्वय की आहुति दे कर नही। यह सपूर्ण मानवता ही सत थामस के दर्शन की आधारशिला है तथा ईसाई परपरा के सभी अनुयायी इसमे विश्वास करते है।

सच्चे मानववाद की सीमाएँ

मनुष्य की प्रकृति की महानता तथा उसकी गरिमा को मानते हुए भी वे मनुष्य के अस्तित्व की सीमाओ पर जोर देते है। मनुष्य की आकाक्षाएँ तो अपरिमित होती है परतु उसकी उप-लब्धिया सीमित ही रह पाती है। सत्य की खोज मे उसकी प्रतिभा भौतिक ससृति से परे स्वत चित्य की ओर अग्रसर होती है परतु अपनी पकड मे यह सीमित होती है। अपनी सृजनात्मक स्वतन्त्रता मे मनुष्य की इच्छा, जिससे वह अपने भाग्य का निर्माण करता है, अपरिमित होती है परतु अपनी मूलभूत कमजोरियो के कारण यह आत्मघातक भी बन जाती है। मनुष्य की इच्छाशक्ति स्वतत्र नही होती। वह अपने आप मे कोई कानून नही होती प्रत्युत ईश्वरीय विधान के आधीन होती है। इस इच्छा पर मनुष्य अपने उत्तरदायित्व की भावना से ही नियत्रण कर पाता है। अपनी

स्वतत्रता मे मनुष्य का ईश्वर से साक्षात्कार होता है तथा इस चुनाव मे मनुष्य ईश्वर से प्रभावित होता है। ईसाई परपरा के इन विचारको द्वारा मनुष्य के इस विरोधाभास की पूरी तरह अनुभति की गयी है। उन्होने मनुष्य को उसकी महानता के साथ-साथ उसकी लघुता मे भी देखा और वे ईश्वर मे उसकी आस्था को, जो उसकी महानता का एकमात्र स्रोत है, कभी नही भुला सके।

वास्तविक तथा गत्यात्मक मानववाद

मनुष्य के बारे मे यह विचारधारा प्रबल रूप से गत्यात्मक है। यही कारण है कि मध्ययुग मे जीवन-शक्ति की इतनी क्रियाशीलता का स्फुरण सभव हुआ क्योकि मनुष्य की सारी शक्ति परिपूर्णता की ओर लगायी जाती है, और यदि यह दैवी शक्ति की ओर उन्मुख रहे तो सपूर्णता के लिए उसके सामर्थ्य की कोई सीमा नही रहती। पूर्वी देश के लोगो की प्रकृति मद गति वाली तथा धमपरायण होती है और पश्चिम की क्रियाशीलता से वे अशात तथा अव्यवस्थित हो जाते है। थामस के अनुयायियो के लिए कमण्यता की जडें ध्यानमग्नावस्था मे ही प्राप्त होती है। मध्यकाल मे आश्रम सबधी व्यवस्था, ध्यानमग्नता तथा रहस्यवाद का काफी प्रचलन था। ईसाई परपरा इस बात पर जोर देती है कि जो क्रियात्मकता ध्यान की स्थिति मे विश्वास नही रखती वह निष्प्रयोजन तथा निस्सार है, तथा साथ ही जो ध्यानावस्था कमण्यता मे परिणत नही होती वह निष्फल है। सच्चा चिंतनशील व्यक्ति अपने सतुलनबिंदु की ओर वापस लौट कर अपने आप को अधिक ईमानदारी तथा प्रभावोत्पादक ढग से जीवन के कमक्षेत्र मे सन्निहित करता है।

ईसाई मानवतावाद तथा सस्कृति

तो फिर क्या मानव-जीवन की यह ईशकेंद्रीय विचारधारा सस्कृति तथा मानवता के अनुरूप है? ऐसा प्रश्न करना ही व्यर्थ है क्योकि सारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि सभी सस्कृतियो मे धम एक क्रियाशील शक्ति रही है तथा पूर्व और पश्चिम मे अनेक बडी सास्कृतिक उपलब्धियाँ धार्मिक विचारो द्वारा अभिप्रेरित रही है। परतु जबसे मनुष्य ने अपने सतुलन-बिंदु ईश्वर को भुला दिया है वह अग्रेज कवि स्विनबन के शब्दो मे सदा ही टाट की भाति पापमाग मे प्रवृत्त होता रहा है

> **गैलीलियन, तुम्हारी विजय हुई**
> **और सारा विश्व तुम्हारी साँसो से बूढ़ा हो चला**

नास्तिक मनुष्य ने ईश्वर मे अपनी आस्था का हनन यह सोच कर किया है कि वह उसकी स्वतत्रता मे बाधक है—उस अफीम की भाँति जो उसे स्फूर्ति प्रदान करती है, जो कमजोरो के लिए छुटकारे का एक रास्ता है तथा बलवान पुरुषो के लिए अशोभनीय है। लेकिन इतिहास के तथ्य क्या है? धमविरत नास्तिक लोगो ने एक 'बलवान नयी दुनिया' का स्वप्न तो देखा है परतु उन लोगो ने मानवेतर मूल्यो के रूप मे कोई ऐसी वस्तु नही पैदा की है जिसने मानवता को समृद्ध

बनाया हो। ईसाई परंपरा के अनुसार धर्म सच्ची मानवता का शत्रु नही है प्रत्युत उसका मित्र एवं सहायक है। यह मानव मूल्यो की अवहेलना नही करता बल्कि उसकी सुरक्षा करता है, यह मनुष्य की क्रियाओ तथा शिल्पो का तिरस्कार न कर के उन्हे सही रास्ते पर चलाता है। धार्मिक विश्वास तर्क-बुद्धि का तिरस्कार नही चाहता बल्कि बुद्धि को प्रकाशमान बनाता है। यह मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा का हनन नही करता बल्कि उसकी स्वतंत्रता का परिष्कार उसकी इच्छा को सही रास्ते पर ला कर करता है। धर्म जीवन से पलायन नही माँगता, प्रत्युत जीवन को पारगति प्रदान करता है। यह इस लोक मे तथा दूसरे लोक मे जीवन की परिपूर्णता की दिशा मे मनुष्य का सहायक होता है, क्योकि यह जीवन एक दूसरे शाश्वत जीवन की पूर्वपीठिका है। धर्म केवल इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य अपनी प्रकृति की वास्तविकता को पहचाने, अपने क्षणभंगुर जीवन की वास्तविकता तथा उसके अनुरूप अपनी मानवता का विकास करे। ईसाई परंपरा एक ऐसी मानवता की पोषक है जो इस वास्तविकता के सर्वथा अनुरूप है—ईश्वर की सत्ता की वास्तविकता, उससे मनुष्य के संबंध तथा उस पर मनुष्य की आधीनता की वास्तविकता एवं मनुष्य की आध्यात्मिक नियति की वास्तविकता। ईसाई धर्म मनुष्य के समक्ष कुछ ऐसे बुनियादी प्रश्न रखता है जिनके अनुसार वह अपने जीवन का स्वरूप निर्धारित कर सकता है। क्या मनुष्य की नियति धरती पर इस जीवन द्वारा बंधी हुई है? क्या ऐसी कोई स्वयंभूत ईश्वरीय शक्ति है जिसके समक्ष मनुष्य को आत्म-समर्पण करना चाहिए? ये प्रश्न असंदिग्ध और बिल्कुल साफ-साफ उत्तर चाहते हैं—हाँ या नही। इसमे 'संभवत', 'दोनो' या 'तथा' जैसे वक्रोक्तियों की गुंजाइश नही है। जीवन का एक दर्शन—मानवता का निर्माण—दो सूरतो मे से किसी एक के भी आधार पर हो सकता है। परंतु ये असंबद्ध है तथा उनके बीच किसी प्रकार का समझौता नही हो सकता।

जहा तक संस्कृति के संबंध मे ईसाई धर्म का प्रश्न है, उसका उत्तर साफ है। संस्कृति सभी दर्शनो के सामंजस्य से निर्मित होती है—आचार, नीति, महत्ता, कलाएँ, संस्थान, विज्ञान तथा वे युक्तियां जिनके द्वारा मनुष्य एक सच्चे तथा सुखमय मानव-जीवन की अनुभूति प्राप्त करना चाहते है। संस्कृति मूलत मानवीय साधनो से मानव जीवन को समुन्नत बनाती है तथा एक विशेष देश या जाति के लोगो द्वारा पीढ़ियो से संपाद्य जीवन-कला को प्रतिबिंबित करती है। ईसाई धर्म इस अर्थ मे संस्कृति नही है कि वह दैवी वदान्यता द्वारा मानव जीवन को अलौकिक रूप से उच्च बनाता है। ईश्वरीय कृपा द्वारा यह मनुष्य के जीवन को दिव्यता प्रदान करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ईसाई धर्म तथा संस्कृति दोनो के उद्देश्य भिन्न है और वे विभिन्न स्तरो पर कार्य करते है—एक ईश्वरीय स्तर पर, दूसरा मानवेतर स्तर पर।

पश्चिमी संस्कृति से ईसाई धर्म की विभिन्नता

पूर्व मे बहुत से लोग यह सोचते है कि ईसाई धर्म का पश्चिमी यूरोप की संस्कृति से बड़ा घनिष्ठ संबंध है, पर यह एक बड़ी भ्रांति तथा ईसाई धर्म का पूर्णत विरूपीकरण है। यह धर्म सच्चे अर्थों मे प्रकाश्य होने का दावा करता है तथा संपूर्ण मानव-जाति के लिए ईश्वर का उपहार

होने का भी दावा करता है। यह इतिहास का एक सयोग ही है कि इसका प्रसारण प्रथमत पश्चिम मे हुआ, यद्यपि आरभ मध्यपूर्व मे हुआ था। यूरोप की सस्कृति मे अनेक गैर ईसाई तत्व है जिनमे यूनान की विरासत, रोम के कानून तथा युद्धप्रिय रोम के अनुशासन का समन्वय है। अरस्तू तथा सुकरात का दर्शन, मूर लोगो का प्रणयगीत प्यार तथा यूरोप की सभी जातियो की सास्कृतिक उपलब्धिया का समावेश इसमे है। ईसाई धर्म ने इन सास्कृतिक तत्वो को एकत्र किया तथा उन्हे पवित्र कर के मानवता के उपकार मे लगाया। इस अर्थ मे ईसाई धर्म ने पश्चिम की सस्कृति को बहुत हद तक प्रभावित किया परन्तु यह उस सस्कृति से एकरूप नही है। उदाहरणार्थ सत आगस्टाइन ने सुकरात के श्रेणी-विभाजन का उपयोग ईसाई धर्म की सत्यता को प्रकट करने के लिए किया, सत थामस ने अरस्तू का उपयोग किया तथा फादर डडाय और फादर जास ने वैसा ही उपयोग शकर की श्रेणियो का किया। आवश्यक रूप से सस्कृति स्थानीय हुआ करती है तथा एक विशिष्ट प्रकार के लोगो की सपत्ति होती है, जबकि उस धर्म को जो सपूर्ण मानव जाति के लिए ईश्वर का उपहार होने का दावा करता है, आवश्यक रूप से सार्वदेशिक तथा विश्वव्यापी होना चाहिए। इस कारण वह अपने को किसी एक विशेष सस्कृति से सबद्ध नही कर सकता। सारे विश्व मे ईसाई मतानुयायियो मे इसी कारण हम धार्मिक एकता तो पाते है, पर उनकी सस्कृतियो मे भिन्नता होती है।

चूकि यह धर्म सस्कृतियो की सीमाओ को लाँघ जाता है, हम इसका तादात्म्य किसी एक विशेष सस्कृति से नही स्थापित कर सकते। इसमे इतनी शक्ति है कि यह विभिन्न सस्कृतियो को एक सूत्र मे आबद्ध कर उनमे एकता ला सके। तो फिर हम भारतवर्ष मे बहुधा लगाये जाने वाले इस अभियोग का उत्तर कैसे दे कि ईसाई धर्म अपने अनुयायियो को उनकी जन्मगत सस्कृति का परित्याग कर पश्चिमी सस्कृति के रूप का अनुकरण करने के लिए प्रेरित करता है? इस विषय मे एक खेदजनक तथा दुखद भ्राति फैली हुई है जिसका उत्तरदायित्व आशिक रूप से कतिपय ईसाई लोगो पर भी है, जिनकी दृष्टि की सकीर्णता ने इस भ्राति को खडा किया है, तथा कुछ उत्तरदायित्व उनके गैर ईसाई बधुओ पर भी है। ईसाई गिरजाघरो ने सदैव ही इस बात पर जोर दिया है कि वे मनुष्य जाति के लिए किसी एक सस्कृति के परिणाम नही लाते, वरन ईश्वरीय सत्यता तथा गरिमा का दैवी वरदान देते हैं। दुर्भाग्यवश बहुत से ईसाई जन अपने सकीर्ण दृष्टिकोण से ऊपर नही उठ पाये है। उन्होने ईसाई सार्वभौमिकता का गलत मूल्याकन कर इस धर्म को पश्चिमी सस्कृति से एकरूप समझा है। ईसाई मिशनरी पश्चिम से ही आये। इसलिए सभी ने तो नही पर कुछ ने यह समझा कि चूकि पश्चिमी सस्कृति की धारा को ईसाइयो ने अपने धार्मिक मूल्यो को स्थापित करने के लिए एक नया मोड दिया था, यह ईसाई धर्म के लिए सस्कृति का सर्वोत्कृष्ट रूप था। इस पश्चिमीकरण के अनेक अपवाद भी चीन, जापान तथा भारत मे थे। यह केवल इस बात का द्योतक है कि नैतिक स्तर पर सार्वभौमिक हो पाना कितना कठिन है।

परतु नैसर्गिक सस्कृतियो को भी इस दोष का उत्तरदायी होना चाहिए। पूर्व मे सस्कृति को धर्म से एकसम समझा जाता है। जब कुछ लोगो ने अपनी विवेकशक्ति का उपयोग कर ईसाई धर्म द्वारा ईश्वर को अपनाया तब उन्हे बडी निर्दयतापूर्वक समाजच्युत किया गया तथा अपने अन्य

बंधुओ की सामाजिक एव सास्कृतिक धारा से पूणत विच्छिन्न कर दिया गया। यह कोई आश्चर्य नही है कि अपने पार्थक्य की कुठा से पीडित हो कर उन्होने न केवल इस धर्म का आलिंगन किया अपितु अपने सरक्षको के सास्कृतिक रीति-रिवाजो को भी अपना लिया।

ईसाई सार्वभौमिकता

यदि ईसाई धर्म सस्कृति से एकरूप नही है तो सस्कृतियो के प्रति इसका क्या दृष्टिकोण है? यह धर्म मनुष्य का आदर उसे ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना मात्र कर करता है, और चूकि उसकी सस्कृति मनुष्य की सबसे श्लाघ्य तथा सुदर उपलब्धि है, इसका आशय यह हुआ कि ईसाई धर्म सभी मानव सस्कृतियो का समान रूप से आदर तथा सवर्द्धन करता है। सभी सस्कृतियो के अच्छे तथा उदात्त गुणो को यह श्रद्धा की दृष्टि से देखता है और उनके चिरस्थायी तत्वो को अपनाता है, क्योकि ये गुण किसी एक जाति विशेष के लोगो की एकाधिकृत सम्पत्ति नही होते। वे मानवता की सामान्य निधि होते है। '**मैं मनुष्य हूँ, कोई भी मानवीय वस्तु मेरे लिए परकीय नहीं है।**' यही सच्ची कैथोलिक विचारशक्ति है तथा ईसाई धर्म अपने ऐसे अनुयायियो की सकीर्णता एव प्रागल्भ्य की भर्त्सना ही कर सकता है, जो अपनी निजी सस्कृति की सीमाओ से ऊपर नही उठ सके।

ईसाई धर्म मनुष्य की सस्कृति का एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाता है। मानव-जीवन की व्यजना इतनी समृद्ध है कि कोई एक विशेष जाति मनुष्य की सारी भव्यता को नही प्रकट कर सकती, ठीक उसी भाँति जैसे कोई एक विशेष पुष्प सारी पुष्प-जातियो के सौरभ को नही प्रकट कर सकता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कोई भी एक विशेष सस्कृति अपने आप मे सपूर्ण तथा सार्वभौमिक नही होती। दूसरे शब्दो मे, प्रत्येक सस्कृति एक अपूर्ण तथा सीमित साधनो वाले मनुष्य की रचना होने के कारण स्वय भी अपूर्ण तथा सीमित होती है, सत्यता के साथ-साथ इसमे कुछ त्रुटियाँ भी होगी, अच्छाइयो के साथ-साथ कुछ बुराइयाँ भी होगी। उदाहरण के लिए हम देखें कि अपने मौलिक स्वरूप मे जाति-व्यवस्था मानवीय एकीकरण के महान उद्देश्य की सिद्धि के लिए हुई जिसमे समाज तो एक सघटन रहता है और इसके सदस्यो के अनेकानेक कार्य तथा जीवन-साधन समग्र समाज के हित के लिए होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्धारित कार्य का पालन कर सारे समाज की सेवा करता है। यह निश्चित रूप से एक महान अवधारणा थी, जिसे सामाजिक भलाई के लिए रचा गया था। परतु जाति-व्यवस्था के जिस स्वरूप से हम अवगत है, क्या हम उसमे अनेक प्रकार की कुरीतियाँ नही पाते? सभी सास्कृतिक सस्थानो मे अतर्हित अच्छाइयो को प्रतिधारण करना तथा उसकी कुरीतियो का परित्याग करना—यही प्रधान समस्या है। ईसाई धर्म का यह दावा है कि ईश्वरीय अभिव्यक्ति की सत्यता मानवीय प्रज्ञा की कमजोरियो को ठीक करती है तथा ईश्वर की अनुकपा मनुष्य की इच्छा को, उसकी स्वतत्रता का आदर करते हुए, सपन्न बनाती है।

पूर्व मे हमने कुछ अज्ञान पश्चिमी लोगो के सास्कृतिक अहकार तथा निरकुशता की घोर निंदा की है, जिन्होने दूसरो की सस्कृति को अपनी सस्कृति के निर्धारित आदर्शों के अनुरूप प्रमा-

णित किया। ऐसा करना अनुचित था और यह शुभ लक्षण है कि अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ समझने की धारणा पश्चिम मे अब शिक्षित लोगो के बीच से उठ रही है। हमे स्वय ऐसी त्रुटि करने से बचना चाहिए। सास्कृतिक भिन्नताएँ उतनी ही स्वाभाविक है जितनी व्यक्तिगत तथा पारिवारिक भिन्नताएँ। ऐसी अवस्था मे कोई भी संस्कृति सभी अर्थों मे सपूर्ण नही हो सकती, परतु परिपूर्णता तथा और भी अधिक समृद्धता की सभावनाएँ इसमे अवश्य रहती है। इसकी प्राप्ति के लिए इस संस्कृति को विनयशील तथा मानवीय हो कर अपनी सीमाओ को पहचानना चाहिए तथा बाह्य प्रभावो को ग्रहण करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए।

ईसाई परपरा की यह मान्यता है कि मनुष्य असीमित रूप से परिपूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता है और कितनी ही समुन्नत मानव-संस्कृति क्यो न हो, उसके आगे भी परिमार्जन की सभावनाएँ रहती हैं तथा अपने सद्प्रयासो से मनुष्य जो भी समृद्धता प्राप्त कर सके उसके ऊपर भी ईश्वर अपने आशीर्वाद द्वारा उसे और भी समृद्ध बना सकता है। इस मत के अनुसार बहुसांस्कृतिक समाज को सभी सस्कृतियो की अच्छाइयो को अपनाना चाहिए और साथ ही उनकी विविधता तथा पार्थक्य की भी रक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार एक समाज को अपने सभी सदस्यो के पृथक तथा विलक्षण व्यक्तित्व का आदर करना चाहिए न कि उन्हे एक आदर्श एकरूपता मे सीमित करना, उसी प्रकार बहुसास्कृतिक समाज को एक सुदर पच्चीकारी की भाँति विभिन्न सास्कृतिक समुदाय के लोगो की समृद्ध परपराओ को एक व्यवस्थित एकरूपता मे बाँधना चाहिए। हिंदुत्व मे ईश्वरीय परमोत्कृष्टता की अनुभूति तथा भक्ति की मृदुल साधना, बौद्ध धर्म की समय की शोकार्तता तथा विश्वव्यापी सहानुभूति की अभिव्यक्ति, कन्फ्यूशियन विचारधारा द्वारा ब्रह्माड की सवमान एकरूपता तथा यथार्थता की मानवीय क्रियाएँ, सतुलन तथा सौंदर्य का जैनवादी सिद्धात—ये सभी एक बहुसास्कृतिक समाज को पश्चिम की सास्कृतिक परपराओ के साथ समृद्ध बना सकते है। वे इस समन्वय से एक दूसरे को भी, बिना अपनी विशिष्टता खोये हुए, समृद्ध तथा परिपूर्ण बनायेंगे। इस कार्य के लिए ऐसे मनुष्यो की आवश्यकता है जो अपनी सास्कृतिक परपराओ मे पूर्णरूपेण पारगत हो तथा साथ-साथ अन्य सस्कृतियो की अच्छाइयो को ग्रहण करने मे सहिष्णु तथा उदार हो। यह स्पष्ट है कि यह ऐक्य की भावना, जो मनुष्यो को एक नये समाज मे उनकी पृथकता का सम्मान करते हुए एक सूत्र मे पिरोती है, उसे किसी एक संस्कृति की सीमाओ को, उसका पोषण करते हुए भी, पार करना होगा। यह किस चीज मे सन्निहित है?

सार्वलौकिक सहनशीलता की भावना का सिद्धात

जब सस्कृतियो का अभिज्ञान धर्म के आधार पर होता है तब स्पष्टत सस्कृतियो का सम्मिलन धर्म के भी सम्मिलन का द्योतक है। इसलिए कुछ लोगो का विचार है कि सहिष्णुता की यह चेतना केवल धार्मिक उदारता के माध्यम से ही प्राप्त हो सकती है। इस उदारता से उनका अभिप्राय एक ऐसी प्रबल आत्मिक शक्ति से है जो किसी प्रकार के सस्थान, विचार अथवा सिद्धातवादिता से स्वतत्र हो। उनका विश्वास है कि केवल यही उन्नत आत्मिक शक्ति, जो सभी धार्मिक विचारधाराओ को सहृतिवादी स्तर पर अपनाने को तत्पर रहती है, मानवता के एकीकरण की

आधारशिला है। अर्नाल्ड टायन्बी ने अपनी पुस्तक 'विश्व तथा पश्चिम' में उपरोक्त धार्मिक विचार-धाराओं के इस एकीकरण की भावना के विषय में लिखा है तथा पूर्व में भी बहुत से ऐसे लोग हैं जो धार्मिक उदारता के इस मत के पोषक हैं। वे विश्व के सभी धर्मों को केवल एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले विभिन्न मार्ग समझते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने मनोवांछित मार्ग का अनुसरण करने के लिए स्वतंत्र है पर ऐसा उसे दूसरों की धार्मिक भावना का सम्मान करते हुए करना चाहिए। इस प्रकार मानवता का आध्यात्मिक स्तर पर एकीकरण संभव हो सकेगा और उसके साथ सांस्कृतिक एकीकरण भी। इसे हम विचारों की विभिन्नता में एकता की भावना कह सकते हैं।

उदारता के सिद्धांत के विषय में ईसाई विचार

अनेक कारणवश ईसाई मत धार्मिक रीतियों के समन्वय के विचार को स्वीकार नहीं कर सकता। सर्वप्रथम ईसाइयों का विश्वास प्रकाशन पर निर्भर है, और वे विश्वास के सत्य को इसलिए दृढ़ स्वीकार करते हैं कि स्वयं ईश्वर ने ही इसे प्रकाशित किया है। ईसाई मत का यह दावा है कि वह एक ऐतिहासिक दैवी श्रुतिप्रकाश पर अवलंबित है। ऐसी स्थिति में यह मत केवल एक विचार मात्र नहीं है जिसकी सत्यता संदिग्ध हो, प्रत्युत यह दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर जिस भी चीज को प्रकट करता है वह निर्विवाद रूप से सत्य है। धार्मिक मत प्रमाणिक होना चाहिए। इसलिए कैथोलिक ईसाई विचारधारा ईश्वर के प्रति अपनी निष्ठा के कारण दैवीशक्ति द्वारा प्रकाशित सत्यता को समाविष्ट नहीं कर सकती।

क्या यह मत कट्टर तथा असहिष्णु है ?

ईश्वर की अभिव्यक्ति के प्रति दृढ़ तथा हठधर्मी निष्ठा को कट्टर या असहिष्णु नहीं समझना चाहिए। ईसाई लोग इस दावे के द्वारा ईश्वर के प्रति अपने उत्तरदायित्व के कठिन भार को भली प्रकार समझते हैं। वे अन्य मनुष्यों की भांति ही कमजोर हैं। वे इसे अतिशय नम्रशीलता से समझते हैं कि दैवी शक्ति की भेंट उन्हें ईश्वर द्वारा सौंपी गयी है जिस पर उनका एकाधिपत्य नहीं है वरन यह सभी मनुष्यों की सम्पत्ति है। इसे जान कर वे लज्जित होते हैं कि अन्य धार्मिक मतानुयायी दैवी शक्ति के इस आलोक के बिना ही उनसे कहीं अच्छा जीवन बिताते हैं। वे जानते हैं कि वे इस दैवी ज्ञान की सुरक्षा के लिए चुने गये अकेले व्यक्ति नहीं हैं, प्रत्युत यह ईश्वर की अनुकंपा का प्रतिफल है तथा इस कारण उनका उत्तरदायित्व भारी है। यह सब जानते हुए असहिष्णु होने की अपेक्षा ईसाई मतानुयायी जिस भी किसी व्यक्ति के संपर्क में आता है, उससे क्षमा की याचना करता है। परंतु फिर भी वह ईश्वरीय सत्यता के संबंध में कोई समझौता नहीं कर सकता। यदि ईश्वर ने मनुष्यों के लिए अपनी परिकल्पना को प्रकट किया है तो उसमें विश्वास रखने वाला उस सत्यता को मात्र एक थोथे विचार या संभावना में ढाल सकने का दुस्साहस नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त, कैथोलिक मतानुयायी अपने ईश्वर के सार्वभौमिक प्यार तथा सहृदयता की निंदा यह सोच कर नहीं कर सकता कि विश्व की अन्य पुरातन धार्मिक मान्यताएं

ईश्वर की दया की पात्र नही है। वह उनकी सत्यता को नकारता नही और न यह सोचता है कि ईश्वर की दया के प्रतिफल वे धम सूक्तियो तथा अन्य उत्कृष्ट भावनाओ से परिपूर्ण नही है, पर इसका तात्पय यह नही है कि दैवी सत्य की जो परिपूर्णता उसे ईसा मसीह स प्राप्त हुई है वह उसका परित्याग कर द। यह असभव प्रतीत होता हे कि धार्मिक रीतियो के समन्वय की विचारधारा ऐसी परिस्थिति म भी व्यावहारिक हो सकती है जैसे सुदूरपूव के धर्मों का, जो ऐतिहासिक तथा आत्मपरक है, पश्चिम के ईसाई या इस्लाम धर्मो के साथ समन्वय जो कि अपने सस्थापको की ऐतिहासिक यथार्थता पर आधारित ह तथा जिनके अनुसार मनुष्य तथा ईश्वर के बीच एक अनन्य सबध स्थापित है। ईसाई धम की यह मान्यता है कि एक ऐसी धार्मिक सहिष्णुता जिसका उद्देश्य व्यक्ति को केवल उस धार्मिक सत्यता का ही ज्ञान कराना हो, वास्तव मे उस सचाई के प्रति एक बडी असेवा होगी तथा उसका निर्मूल विनाश करने के ही तुल्य होगी।

आज भारतवष मे हम देखते है कि बहुत से नवयुवक अपनी धार्मिक बुनियादो को खोते जा रहे है। ऐसा क्यो है? ऐसा इसलिए है कि उनका पालन पोषण सहिष्णुता के वातावरण मे हुआ है जो वस्तुत उपेक्षा की भावना है क्योकि यह धार्मिक भावना के ध्रुव सत्य मे अपनी कोई आस्था नही रखती। जब तक पूव बाह्य प्रभावो के प्रति उन्मुख नही था तथा पश्चिम सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक तथा वैज्ञानिक प्रभावो को अस्वीकार करता रहा, यहाँ का सामाजिक दबाव परपरागत सस्कारो और प्रवृत्तियो के अनुरूप रहा। परतु चूकि अब सामाजिक दबाव शिथिल पडते जा रहे है, हम परपरागत विश्वासो तथा रीतिरिवाजो से विच्छिन्नता देख कर आतकित हो जाते है।

पूव आज सक्रातिकाल से गुजर रहा है जिसके प्रभाव से मनुष्य के जीवन के बुनियादी दृष्टिकोण तथा उसकी परपरागत जीवन-व्यवस्था के सघटन मे आमूल परिवतन आया है। यह विश्व के लिए तथा पूर्व के लिए आवश्यक है कि पूर्व विज्ञान, उद्योग तथा शिल्प और इनस सबधित नये मानसिक विचार को ग्रहण करते हुए अपनी आत्मा को न खोये तथा अपनी परपरा से विमुख न हो। धम के प्रति लोगो मे अधिक जागरूक श्रद्धा की आवश्यकता है। यही ईसाई धम का असदिग्ध मत है।

जिस प्रकार पश्चिमी सभ्यता जागतिक, आर्थिक तथा प्रौद्योगिक स्तर पर विश्व की एकता मे प्रयत्नशील रही है, उसी प्रकार ईसाई धर्म ने लगभग दो हजार वर्षों से ईश्वर के राज्य मे मनुष्य के आध्यात्मिक एकीकरण की दिशा मे कार्य किया है। यदि ईसाई मत असफल हो जाता है तो यह सभव नही है कि धर्मों के एकीकरण का कोई दूसरा गतिहीन आदोलन इस दिशा मे सफल हो सके। इसका सबसे सक्रिय प्रतिद्वदी साम्यवाद जैसा अनीश्वरवादी आदोलन है जो यदि सफल हुआ तो सभी उच्च धार्मिक मतो का विनाश कर डालेगा।

तो फिर स्थिति क्या है? क्या ईसाई मत मानवता के आध्यात्मिक एकीकरण के विपक्ष मे है? नही! परतु इस एकता का आधार कोई सिद्धात या विचार न हो कर मनुष्य की अत-रात्मा तथा उसके हृदय का प्यार ही हो सकता है। दूसरे शब्दो मे, यह सभव है कि मनुष्य अपने धार्मिक मतो के पालन मे यदि एक न भी हो तो भी वे मैत्री तथा सद्भावना से अभिप्रेरित हो कर

एक सूत्र मे बँध सकते हैं। यहाँ तक कि वे लोग भी, जो अपने को नास्तिक मानते है, व्यावहारिक स्तर पर अपनी नैतिक भलाई के लिए ईश्वर की शक्ति का प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किये बिना ईश्वर की शरण पा सकते है। इसलिए ईसाई लोगो का मत है कि अच्छे विचार वाले मनष्यो का प्रेम द्वारा सम्मिलन सभव है, चाहे उनके सैद्धातिक मतभेद जो भी हो।

कैथोलिक धारणा का आधार प्रेम तथा मैत्री है।

समाज मे मनुष्यो का एक सूत्र मे बँधना मित्रता द्वारा सभव है परतु ईश्वर की सत्ता मे उनकी परस्पर आस्था का होना भी आवश्यक है। प्रेम अमूत पद्धतियो या भावनाओ को नही दिया जाता, प्रत्युत मनुष्यो को दिया जाता है तथा यह मनुष्यो की आत्मा के भीतर ईश्वरीय निवास का रहस्य है जो यहाँ कार्यरत है। यह भ्रातृत्व विचारो पर आधारित न हो कर उन मनुष्यो का साहचर्य है जिनकी एक विचार-विशेष मे आस्था होती है, भले ही उनके मतो मे विभिन्नता हो।

ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर से नीचे सबसे बडी शक्ति मनुष्य की होती है। प्रत्येक मनुष्य आदर तथा प्रेम का पात्र है—इसलिए नही कि वह क्या था, प्रत्युत इसलिए कि वह जो है। भ्रातृत्व-सबध मे अपने आपसी वार्तालाप मे हमे अपनी अपूणता तथा कमजोरियो का आवश्यक रूप से ज्ञान होना चाहिए—और इसी धारणा के कारण हम अपने दूसरे भाई की अच्छाइयो को ग्रहण करने के लिए तत्पर होते हैं। यदि मैं ईसा मसीह के प्रेम के कडे कानून के अनुसार सपूर्ण नही हूँ तो मैं किस प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति की कमजोरियो की आलोचना करने का दुस्साहस कर सकता हूँ? इसके पूव कि मैं दूसरे की कमजोरियो की चिता करूँ मुझे स्वय अपनी कमजोरियो के प्रति सजग रहना चाहिए। इस प्रकार ईसाई यथार्थवाद 'तुमसे भी अच्छे' जैसी उक्तियो का, जो मनुष्यो के सबधो को बिगाडती हैं, स्पष्टत निराकरण कर आगे बढता है। केवल एक ही अच्छा और सही रास्ता है जिसके जरिए मनुष्य शाति तथा सहयोग के लिए एक सूत्र में बँध सके—और वह रास्ता है प्यार का। यही वह हितेच्छा है जिसका गुणगान दशनवेत्ताओ ने गाया है। यह सहनशीलता से कही दूर जाती है तथा दूसरो तक ठोस प्यार के रूप मे पहुचती है। परतु फिर भी यह प्राकृतिक परोपकारिता की भावना मनुष्य की स्वाथपरता तथा अहमन्यता के आवरणो को चीर सकने मे असमथ रहती है। किसी एक ऊपरी सत्ता के लिए प्यार होना आवश्यक है ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा प्यार। इस ईश्वरप्रदत्त प्यार की भावना को ईसाई लोग प्रेम कहते हैं। प्रभु ईसा मसीह ने इस बात पर जोर दिया था कि ईश्वर का प्रेम अन्य मनुष्यो के प्रेम से अविच्छेद्य है। जैसा बगसन ने अपनी पुस्तक 'नैतिकता तथा धम के दो स्रोत' मे लिखा है यह ईश्वरीय प्रेम ही मानव हृदय के पट को अपने बधुओ के प्यार के लिए खोल सकता है, क्योकि इसका स्रोत स्वय ईश्वर है जो सार्वभौमिक प्यार का सजक है।

सत पाल ने इस प्यार की व्याख्या इन शब्दो मे की है—'यह प्यार प्रशात तथा सहिष्णु है। यह कोई ईर्ष्या नहीं अनुभव करता। प्यार कभी भी कुटिल, गर्वयुक्त अथवा अविनीत नही होता। यह अधिकारो की माँग नहीं करता। इसे उकसाया नहीं जा सकता। यह किसी घाव के ऊपर चिंतन नहीं करता, कुकृत्यो मे कोई रुचि नहीं लेता, पर सत्य की विजय पर उल्लसित होता है।

यह प्रोत्साहित करता है तथा विश्वास आशान्वित एव सहनशील हो कर जीवित रहता है।' प्रेम का यही आदर्श है जिसे ईसाई धर्म अपने अनुयायियो के समक्ष प्रस्तुत करता है। यही वह प्यार है जिसे ईसा मसीह ने अपने अनुयायियो स मागा था—'**तुम एक दूसरे को उसी प्रकार प्यार करोगे जिस प्रकार मैने तुम्हे प्यार किया है।'** व इसी प्यार के माध्यम से उनका निर्माण करेंगे। ईश्वर के आशीर्वाद द्वारा बहुत से लोग प्यार की चरम सीमा तक ऊपर उठे है। परन्तु धर्म यह जानता है कि उस सीमा तक उठ पाना किसी साधारण व्यक्ति के लिए कितना कठिन होता है। फिर भी ईसाई गिरजाघर अपने सस्थापक ईसा मसीह के आदेशानुसार मनुष्यो को भाईचारे तथा प्रेम मे सम्मिलित करने के लिए सतत उद्योगशील रहा है। मानव सभ्यता के इतिहास मे कोई अन्य दूसरी सस्था विश्वशाति के लिए इतनी प्रयत्नशील नही रही है जितना कि 'चर्च'। जब मनुष्य एक दूसरे को सच्ची भावना से प्यार करेगे तब वे दूसरो के अधिकारो तथा सपत्ति की रक्षा करने के लिए भी प्रेरित होगे। इसी प्रकार मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण सपत्ति—उसकी सस्कृति—की भी रक्षा हो सकेगी।

यही प्यार हमे अपनी सकीर्णता तथा स्वार्थपरता से ऊपर उठ कर जो सत्य, सुदर तथा शिव है उसे पहचानने मे सहायक होता है। दूसरी सस्कृतियो मे मानवीय तथा दैवी मूल्यो की पहचान भी इसी के द्वारा सभव होती है। चूकि यह सारी समृद्धि मानव-परिवार की निधि है, हम इसे अपना ही समझ कर प्रसन्न हो सकते है। इस भ्रातृत्व प्रेम-भाव की आवश्यकता को महात्मा गाधी ने भली प्रकार समझा था। सत्याग्रह के सबध मे १९२० मे उन्होने लिखा था—**'मै समझता हूँ कि वास्तविक अर्थ मे राष्ट्र एक नही हो सकते और न उनके कार्यक्रम सपूर्ण मानवता की भलाई के लिए सहायक सिद्ध हो सकते है जब तक कि हम राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक परिवार की भावना का समुचित आदर नहीं करते। राष्ट्र उसी हद तक सभ्य कहे जा सकते है जहाँ तक वे इस नियम का पालन करते है।'** सार्वभौमिकता तथा भ्रातृत्व की यही भावना विनोबा भावे के भूदान आदोलन की बुनियाद है। अस्तु, इस बहुसास्कृतिक समाज तथा भ्रातृत्व प्रेम की भावना का आशय क्या है ?

प्रथमत, यदि मनुष्य एक दूसरे से वास्तविक मैत्री के इच्छुक हो तो उन्हे अपने आत्मिक केंद्र मे एकीभूत होना चाहिए तथा उस केंद्र द्वारा ईश्वर से सबद्ध होना चाहिए। मनुष्यो के आपसी मतभेद वस्तुत इतने अधिक है कि वे केवल उसी शक्ति द्वारा एक हो सकते है जो उन सारे मतभेदो को पार करती हो। ईश्वरीय परमवाद ही एक ऐसी यथार्थता है जो मानवीय तथा सास्कृतिक निरकुशता को अपने औद्धत्य तथा आधिपत्य की इच्छा द्वारा पराभूत कर सकती है।

दूसरे, एक ओर सत्य की पवित्रता तथा दूसरी ओर सदाशयता की सार्थक महत्ता को स्वीकार करना चाहिए। सत्य को हम कदापि इष्टानुकूलता के आधीन नही मान सकते है। यह कोई मेरा सत्य, आपका सत्य न हो कर शाश्वत सत्य है। मनुष्य को अपने विषय मे भी सत्यता का ज्ञान होना चाहिए और साथ साथ उसे अपनी प्रकृति की महानता तथा उसके क्षणभगुर अस्तित्व की सीमाओ, उसके कृतित्व की महानता तथा उसमे अतर्हित अपूर्णता का भी बोध होना चाहिए।

इस सत्य से कि वह अपने आदर्शों की ऊँचाई तक कभी नही उठ पाता, उसे दूसरो से अपने व्यवहार मे विनम्र तथा निरभिमान होना ही चाहिए। यही मानवता की सच्ची आधारशिला है।

तीसरी बात व्यक्ति की गरिमा तथा जिस यथार्थता पर वह आधारित है उससे संबंध रखती है। मेरा अभिप्राय उसकी आत्मा की आध्यात्मिकता तथा आत्मा की शाश्वत नियति से है। गांधी जी ने सत्याग्रह के संबंध में अपने उपर्युक्त निबंध मे यह भी लिखा था—'सत्याग्रह को लोग आत्मा की शक्ति मानते है, क्योंकि मनुष्य की इस आंतरिक शक्ति का भी अभिज्ञान आवश्यक है।' यह धारणा प्रत्येक मनुष्य की पवित्रता के स्वीकरण की अपेक्षा रखती है, चाहे हम अपने प्रतिमान से उसे कितना भी तुच्छ या नीच क्यो न समझे, क्योंकि हमारे मापदंड उस व्यक्ति-विशेष की आंतरिक पवित्रता को भी नही नाप सकते। यह संस्कृतियां नही है जो आपस मे मिलती है, प्रत्युत मनुष्य है जो इस प्रकार एक सदाप होते है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप मे एक गोपनीय तथा नव दुनिया सा होता है तथा वह अपनी इस गोपनीयता का परित्याग केवल प्रेम की निर्मल भावना के वशीभूत हो कर कर सकता है। जिस भांति दूसरे मनुष्यो के साथ हमारे संबंधों मे प्रेम की आवश्यकता है जो उन्हे आत्मद्योतन के लिए बाध्य करे, उसी प्रकार यदि हम दूसरी संस्कृतियो की आत्मा को पकड़ना चाहे तो हमे उनके प्रति श्रद्धालु होना पड़ेगा। यह श्रद्धा उसी प्रेम द्वारा संभव है जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है।

एक सार्वभौमिक बहुसांस्कृतिक समाज की स्थापना के लिए ईसाई धर्म का योगदान निम्नलिखित है—

प्रथमत, एक सच्ची तथा अखंड मानवता जो मनुष्य की सश्लिष्ट प्रकृति पर तथा उसकी आध्यात्मिक आत्मा, शाश्वत नियति एवं ईश्वर से उसके संबंध तथा उससे उसकी आधीनता के सत्य पर आधारित है।

दूसरे, एक सच्चा व्यक्तित्व-सिद्धांत जो प्रत्येक मानव जीव के इंद्रियातीत मूल्यों की पुष्टि करता है।

तीसरे, मनुष्य की तथा उसके द्वारा प्रजनित सभी वस्तुओं, यहां तक कि उसकी संस्कृति की भी सीमाओं का ज्ञान। यह मान्यता मनुष्य की महानता को घटाती नही है। अस्तु प्रत्येक मनुष्य को विनयशील होना चाहिए और तभी उसकी संस्कृति की समृद्धि की भी संभावनाएं बढ़ेगी।

चौथे, एक ऐसे प्रेम मे आस्था जो मानवीय मित्रता एवं परोपकारिता से भी ऊपर हो—ऐसा प्रेम जो ईश्वर के प्रति होता है।

अंतत, ईसाई धर्म अपने को किसी एक संस्कृति विशेष से संबद्ध न करके मनुष्यो के ईश्वर से एक अंतरतम तथा प्रेमपूर्ण मिलन मे सहायक होने का दावा करता है। यह मनुष्यो को उनके अहंकार तथा स्वार्थपरता से ऊपर उठा कर उन्हे एक सार्वभौमिक बहुव्यक्ति वाले बहुसांस्कृतिक समाज की स्थापना की प्रेरणा देता है।

—सेंट जोज़ेफ सेमिनरी
इलाहाबाद।

बटरोही

कहानी

परिधि और बिंदु

आज फिर वह वहीं पर आ बैठा।

बाजार लगभग खामोश हो चुका था। किसी-किसी घर में ही कुछ-कुछ बोलने-चालने की आवाज आ रही थी—हल्की-हल्की, जो समझ में नहीं आ पाती थी। सामने के बड़े मकान में शीशे के अंदर बंद की हुई रोशनी झिलमिलाती हुई-सी, इधर के पाखरों को कुछ स्पष्ट कर देती थी। बाकी घरों में प्रायः सन्नाटा-सा छा गया था।

उसने आज ज्यादा किसी ओर भी नहीं देखा। उसे याद है, जब वह यहां पर पहली बार बैठा था, तब बड़े ध्यान से उसने यह सब देखा था और उस बार उसे सभी कुछ नया नया सा लगा था।

बायीं ओर लैंपपोस्ट लगातार रोशनी छिटका रहा था। उसकी तेज रोशनी सीढ़ी को खब लंबा कर देती और मटमैली, धूलभरी सड़क पर वह छाया दूर तक चली गयी थी। सीढ़ी के पीछे, जहां ऊबड़-खाबड़ पत्थरों को रख कर एक खोखला सा बनाया हुआ था, उसी में वह रोज बैठ जाता है। सीढ़ी के दोनों हिस्से प्रायः सड़ गये थे। पर दाहिना द्वार अभी तक सुरक्षित था, जिसकी ओर वह अधिक झुका था। बायीं ओर से ठंडी तेज हवा आ रही थी, पर उसने अपने नंगे हाथ पेट और जांघ के बीच सुरक्षित कर लिये थे और सिकुड़ा सा बैठ गया था। बाजार की सड़क ओस से थोड़ी बहुत भीगने लग गयी थी, पर आज उसने किसी ओर भी मुड़ कर नहीं देखा। इतना उसे अवश्य स्मरण था कि पहली बार उसने लैंपपोस्ट की लंबाई भी नापी थी, सीढ़ी के दायीं ओर पड़ रही परछाईं को कुछ देर तक भूत भी समझा था, सामने के बड़े मकान के अंदर जलते बल्बों का अंदाज भी लगाया था और सीढ़ी कितनी पुरानी है—इस बारे में भी कुछ सोचा था।

यह रोज की बात थी—जिसका अब वह आदी हो गया था।

हर शनिवार को वह यहां पर आ जाता है। चाचा को उस दिन तनख्वाह मिलती है, वह ताड़ी पी कर देर से लौटता है। घर में चाची जलते सगड़ के पास बैठी या गरम रजाई के अंदर सोयी उससे कई काम करवाती है। साढ़े नौ बजे तक वह चाचा-चाची के सारे बरतनों को मल डालता है। फिर दस तक चाची की नहायी धोती को सड़क के नल पर से धो लाता है।

इरा काम मे उसे कोई ज्यादा परेशानी नही मालूम होती। पर जब उसके हाथ मोटी धोती को कस कर पकड सकने मे असमर्थ होते है और वह उसे निचोड नही पाता तथा कुछ बूंदे घर के भीतर फर्श पर भी पड जाती है, तब उसकी चाची रोज उसे दो-चार चांटे मारती हुई कहती है, "जैसे घर मे खाना ही नही मिलता, कलमुँहा! निचोडते-निचोडते मेरे हाथ छिल गये है! ओफ! पानी है या बर्फ!"

वह अपने छोटे-छोटे आसुओं को आखों तक ही सीमित रखता है। यदि बाहर आ जाये तो फिर चाँटा खायगा। कमरे के एक कोने मे, जहाँ वह अपनी किताबे रखता है, जा कर हल्की-हल्की सिसकियाँ भरता है। कुछ आँसू अप्रत्याशित रूप से किताब के पन्नो पर ढुलक पडते है—बहुधा एक ही किताब पर, जिसे वह घर से लाया था।

उस दिन खूब गर्मी पड रही थी। गेहू के खेत मे वह गहू के कटे पौधो की झोपडी बना रहा था। छोटा भाई भी पास ही बैठा खेल रहा था। तभी पिता जी ने उसे बताया कि अब वह शहर जा कर पढेगा तो वह बहुत खुश हुआ था। उसने झोपडी तोड दी थी और घर जा कर सबको बताया था कि वह शहर जा रहा है, वह वहाँ मोटर देखेगा, बिजली देखेगा, कुर्सी पर बैठेगा और अच्छे कपडे पहनेगा।

और ऐसे ही एक दिन वह तैयार भी हो गया था। भाई जब उसके पास आया तो बहुत रोया। छोटा-सा था, वह क्या समझता कि कहाँ जा रहा है! उसे भी कुछ बुरा लगा था। पडोस के मधिया ने उसे एक अंग्रेजी की किताब दी थी और कहा था, 'अगली छुट्टी मे आना तो इसे पढ कर सुनाना, हम भी सुनेगे। नीचे दौलिया और किसनुवाँ ने उससे कहा कि अगली बार आने पर बिलायती मिठाई लाना। पीपल के पेड के नीचे बैठ कर सब साथ चूसेगे—देखे कौन सबसे पहले चूसता है?

और वह किताब थी—जिसके अंतिम पृष्ठ के एक कोने पर मोटी कलम से भद्दे अक्षरो मे यह सब लिखा था। वह रोज उसे पढ डालता। कई दिनो से पैसे जुटाने की कोशिश भी कर रहा था—पर व्यर्थ! बडी मुश्किल से जब उसे एक दिन फर्श पर पडे दो पैसे मिले तब वह दो मिठाइयाँ ले आया था। झोले के एक कोने पर पडी वे आधे से ज्यादा गल गयी थीं। पर उसने सोच लिया था कि वह सबसे कह देगा कि शहर मे ऐसी ही मिठाइयाँ मिलती है।

हवा रह-रह कर तेज हो रही थी। बायी ओर से धूल के कण बार-बार आ कर उसके इर्द-गिर्द पड रहे थे। कभी-कभी ऊपर दाहिनी-बायी ओर रखे टीन के टुकडे खडखडा उठते—पर फिर स्वत वह स्वर कुछ क्षणो के लिए बद हो जाता। अचानक एक जोर का झोका आया। उसका शरीर काँप उठा। काले गाढे की कमीज और मलेशिया के पतले पाजामे के कुछ हिस्से फरफराने लगे और उसे लगा जैसे उसके नेत्रो मे कुछ आसू भी उमड रहे है। इसी सीढी के नीचे बैठे-बैठे कई बार उसने यह भी सोचा था कि वह 'मिलिट्री-स्कूल' मे भरती हो जायगा।

चाची के साथ रह कर फायदा ही क्या ? हर समय मारती ही रहती है। सुबह होगी, सूरज की हल्की सी किरणे आयगी—तो वह चला जायगा। फिर कौन उसे पकड़ेगा ? चाचा-चाची को उससे मतलब ही क्या है ? वे लोग तो लेटे लेटे चाय का इतजार कर रहे होंगे।

ऊपर टीन की छत से तुषार की कुछ बूदे टपकने लगी। पिता जी के कहे शब्द उसके कानो से टकराने लगे—यही कि वह बडा आदमी बन कर ही घर लौटे। पर ऐसे वह कहाँ बड़ा आदमी बन पायगा ?

रोज की ही यह बात थी।

उस दिन भी वह सुबह से प्राय सारा काम करता रहा। बिलकुल सुबह जब बरफ पडने ही वाली थी और कडी ठढ पड रही थी, वह सडक के नल पर जा कर सारे बरतन मल लाया था। चारपाई पर सोये चाचा और चाची को उसने गरम चाय भी पिलायी थी। फिर जब गोल बडे आसमान के एक किनारे से काले बादल का एक छोर हटा और छत पर थोडी सी धूप आयी थी तब वह बहुत खुश हुआ था। उसने सोचा, जब सारी छत पर धूप आ जायगी, वह वही एक कोने मे बैठ कर चाचा की जूठी थाली मे भात खायगा, और सडक के नल पर ही सारे बरतनो को मल लायगा। और फिर सडक के लडको के साथ गुल्ली-डडा खेलेगा।

पर जब दूसरे ही क्षण उसने देखा कि पानी की कुछ बूदें छत पर पट-पट पडने लगी तब उसने इस दिशा मे सोचना छोड दिया और केवल इतना ही सोच कर सतोष कर लिया कि आज बरतन गरम पानी से धोयेगा, क्योकि सडक पर कडी ठढ पड रही होगी। और जब कुछ घटो बाद उसने चावल धो कर डेगची मे चढाये तब बरफ भी पडनी शुरू हो गयी थी। फिर भी उसे बडा अच्छा लगा। और जब चाची रसोई मे घुसी, चाचा गरम पानी से मुह धोने लगे तब उसने पीतल की एक थाली छत के कोने मे रख दी जिसमे ताजी-ताजी बरफ गिरती रहे और खाना खाने के बाद सब गुड के साथ उसे खाये।

रोशनदान की चोटी पर, ऊपर नाले और रोशनदान की सीक से बधी रस्सियो पर और तिरछे रखे लकडी के टुकडो पर तो बरफ जमा भी हो गयी थी जो सफेद-सफेद रुई के गाले-सी अटकी बडी अच्छी लगी उसे। उसने ज्यादा समय वहाँ नही लगाया। भीतर जा कर मिच-मसाला पीसना था, सब्जी के लिए पालक छाँटना था—इसलिए वह अदर चला गया।

पर जब बरतन मलने के बाद उसे याद आया कि उसे तो स्कूल जाना है, तब उसे कुछ निराशा सी हुई। और जब शाम को घर लौटा तब चाची ने आते ही पूछा था कि वह पीतल की थाली कहाँ है ? तब उसे याद आया कि वह तो छत पर ही थी। और जब वह वहा गया तब सफेद बफ की एक मोटी तह उसके ऊपर जम चुकी थी। चाची ने जब यह सुना तो सीमेंट की पटाल पर ही उसे गिरा दिया था। नाक से खून बहने लगा। पर जब चाची ने चौके के कोने से फिर पीठ मे मार कर थाली निकालने को कहा था तब वह उस बफ से भरी छत पर नगे पैर ही चला गया था। ऊपर से सफेद पखुडियो-सी बरफ यदा-कदा गिर कर खून की बूदो को ढक देती थी। जब खूब बरफ खोद कर उसने थाली निकाली तब ढालू छत पर पडी बडी-सी बर्फ की सिल्ली के साथ वह नीचे पटाल मे फिसल पडा था। थाली दाहिनी ओर गिरी। चाची ने थाली उठाने के बाद जब

उसे उठाया तब वह बेहोश-सा था। काफी देर आग के पास लेटे रहने के बाद जब उसने आखे खोली तब चाची ने गरम रजाई के नीचे लेटे-लेटे ही कहा था कि आटा गूंध दे। और वह टूटते शरीर से ही आटा गधने लग गया था।

कभी कभी वह किताबों वाले कोने मे बैठा सोचा करता कि उसे कही चले जाना चाहिये। पर तभी वह सोचता---ऐसे वह बडा आदमी नही बन पायगा। गाव के कितने लडके बचपन मे ही भाग थे। पर आज काई होटल मे बरतन मलता था, काई माली था ओर काई फौज मे रगरूट। उसने बडे-बडे अफसरो को देखा था। वह भी वैसा ही बनना चाहता था। कोने मे हल्की लौ से जलते दीये के सामने उसने कई किताबे याद कर ली थी। और साल भर बाद जब वह कक्षा म अच्छे नबरो से पास भी हो गया था तब उसे बडी खुशी हुई थी। कुछ साल मार खा कर ही सही, पर वह पढेगा और अवश्य बडा आदमी बनेगा---यही उसने सोचा।

दूर से लोगो का झुड-सा आता उसे दिखायी दिया। वह चौकन्ना हो गया। लैपपोस्ट की लबी रोशनी वहा तक पहुचने मे असमर्थ थी। पर ज्योही वे नजदीक आये, उसने देखा---कई बाजारू लोग ओर गुडे थे। उसका चाचा भी उनमे था। सिनेमा छूटा होगा---यही उसने सोचा। सभी लोग धीरे-धीरे आगे बढ गये। उसका चाचा भी कुछ बडबडाता, लडखडाता सीढियो पर चढने लगा। उसके पावो का भद्-भद् शब्द उसने सुना जो बढता हुआ ऊपर के कमरे तक पहुँच गया जहाँ शायद झकझोरते हुए उसने चाची को उठाया। कुछ देर दोनो मे कुछ कहा-सुनी होती रही जो वह साफ नही सुन सका। फिर बरतनो की खडखडाहट हुई, और कुछ ही देर बाद वह शब्द भी समाप्त हो गया और सन्नाटा छा गया।

कमरा चुप हो गया, बाजार चुप हो गया और हवा भी चुप हो गयी---रह गया केवल हल्की-सी कुछ सिसकिया।

ऊपर छत की टीन मे तुषार की बूदे अब अधिक सख्या मे गिरने लगी थी। आज उसने उन्हे गिना नही, न उसे आज नींद ही आयी। वह सोचने लगा---कल सुबह होते ही वह चला जायगा। चाचा रोज ताडी के नशे मे धुत रहते ह, उन्हें उससे कोई मतलब नही। चाची अनाप शनाप मारती रहती ह। शशी की माता जी उसे कितना अधिक मानती है! इटरवल मे आते ही उसे मिठाई देती ह, केला देती ह। शाति की मौसी उसे भुने चने देती है। हरी पढने म कितना लीचड है, पर 'हाफ टाइम' मे जा कर मलाई मे चीनी मिला कर पराठे के साथ खाता हे। ओर जब वह घर आता ह, तब कुछ जूठे चाय के गिलास मलने पडते हे ओर, कभी कभी, चाचा के मोटे गद्देदार हाथो से मार ही खानी पडती है। मिलिट्री मे चला जायगा तो कम से कम यह मार तो नही पडेगी!

पर वह मिठाई? वह अग्रेजी की किताब? मधिया, किसनुवा क्या सोचेगे? जेठ की दुपहरियों मे पीपल के पेड तले बैठ कर मेरी बाते करेगे। पिता जी बैसाख की धूप मे खेत के गेहूँ काटते काटते मेरी याद करेगे।

हवा ने एक लबी फुरहरी फिर ली। उसका रोम-रोम काप उठा। जाडा भी उसे लगा।

सामने मास्टर जी के छोटे-से घर से घड़ी ने तीन घंटिया बजायी। इसी उधेड़बुन मे उसकी आखें भारी हो आयी। दाहिनी ओर की उस सटी लकड़ी पर उसने सिर टिका दिया। दोनों हाथों को जांघ और पेट के बीच सिमटा कर एक कर लिया और निढाल-सा पड़ गया।

पर जब रात्रि गगन के समाप्त हो जाने पर कोहरे-भरा दिन आया तब वह घर नही गया। उसके पाव बाजार के कोने की ओर बढ़ने लगे। कहीं-कहीं पर काच सा जमा तुषार पॉव रखते ही पड़पड़ाहट कर उठता। एक शूल-सा उसके पॉव से सिर तक चुभ जाता। पर जब वह काफी दूर चला गया तब उसके पाव थकान से भारी हो गये थे और अब उनमे ज्यादा ठंड नही लग रही थी। लड़कों से सुन रखा था अत वह चलते-चलते भरती वाली जगह पहुँच गया। वहाँ बड़े आदमियों से उसने पूछा भी कि भरती कहा होगी? सभी ने कहा कि कुछ देर बाद जब बड़े साहब आयेंगे, तभी होगी।

अब एक बड़ा-सा मैदान उसके सामने था। बादलों के अनेक टुकड़े उसके कानों मे आते-जाते और क्षण भर बाद ही नीचे घाटी मे डूब जाते। उसने बहुत देर तक उन्हे देखा। चाची की मार अब उस पर नही पड़ेगी—यह विचार आते ही उसके कलेजे मे एक अजीब सी गुदगुदी पैदा हो जाती। वह अब भली भांति मन लगा कर काम करेगा। फिर कौन उसे मारेगा? धीरे-धीरे जब वह बड़ा हो जायगा तब चाची से कहेगा कि वह मिलिट्री मे इतना बड़ा अफसर हो गया है। चाची मन ही मन कुढ़ेगी, पर बाहर से खूब खुश होगी। चाचा को समझायेगा—ताड़ी पीना बुरा है, पीना ही है तो कोई बढ़िया चीज पियो। वह अपनी जेब से खूब खनखनाते रुपये निकालेगा और चाचा के सामने रख देगा। चाचा ताड़ी के नशे मे खूब हँसेगा और उसको गले लगा लेगा। और मधिया, किसुनवॉ? वे भी तब तक बड़े हो जायेंगे। बिलायती मिठाई थोड़े ही पसन्द करेंगे। वह उनके लिये पतले तार से मढ़ी चिलम ले जायगा, जिसे देख कर वे सब-कुछ भूल जायेंगे और उसकी खूब बड़ाई करेंगे।

पिता जी तब शायद बहुत बूढ़े हो जायेंगे। बहुत दिनों तक रोने के आदी हो जाने से उन्हे पहले तो विश्वास नही होगा, फिर जब अपनी गीली आखो को पोंछ कर वह हँसेंगे तब वह उनके सामने खूब मोटी ऊनी जरसी और गरम पैंट रख देगा। तब पिता जी घंटों आंगन मे—नारंगी के पेड़ तले, आँसू बहाते हुए सारी पुरानी बात सुनायेंगे और अपने मोटे, काले-काले हाथ दिखायेंगे।

तभी कोलाहल हुआ। मैदान के दाहिनी ओर से, वर्दियाँ पहने उसीके बराबर लड़कों का एक जत्था आया और मैदान मे तीन कतारों मे खड़ा हो गया। उसके बाद दो-तीन आदमी अच्छी वर्दियां पहने आये और उन पर एक दृष्टि डाल कर चले गये। लड़कों का यह जत्था अब परेड करने लगा। वे केवल बनियान और नेकर पहने हुए थे। दो-तीन हरी कमीज-पैंट वाले सिपाहियों ने उन्हें इधर-उधर चलाना शुरू किया। वह बड़े गौर से यह सब देखता रहा।

उसने देखा कि जरा-जरा सी असावधानी पर उन पर बूटों का प्रहार होने लगा। थोड़ी सी गलती पर ही उनको डॉट दिया जाने लगा। पर वे लड़के बिलकुल चुप थे। जैसा उनसे

कहा जाता, बिना किसी आपत्ति के वे वैसा ही कर रहे थे। अचानक उसे अपनी चाची याद आ गयी। उसके चौके के कोने की चाटें उसकी पीठ में ताजा हो आयी और उसने वहाँ से मुँह मोड लिया। उसे यह सब बहुत बुरा लगा, और उसने निश्चय किया कि न तो वह मारने वाला सिपाही बनेगा और न मार खाने वाला। और फिर वह आगे बढ गया।

उसके पाव अब कुछ थक से चले थे। न जाने किधर की ओर वह बढा जा रहा था। लंबी सडक थी, जिसके ओर-छोर का कुछ पता नही। तभी उसे ध्यान आया कि वह कहाँ जा रहा है? ऐसे थोडे ही घर की हालत सुधरेगी! उसकी आखो के आगे घर का वह वातावरण घूम गया जिसके एक एक कोने मे कीडो सी बिलबिलाहट और फतिगो-सी हाय हाय मची रहती थी।

उसने फिर सोचा कि वह बडा अफसर बनेगा। लेकिन वह पढेगा कहा? यह समस्या बार-बार उखडे पत्तो सी उसके मस्तिष्क मे मडराने लगी। घर का वह कोना उसे याद आया जहाँ बैठे बैठे उसने कई किताबें याद कर ली थी। कोने के उस दिये की लौ उसकी आखो के आगे मँडराने लगी। वह वहा ज्यादा देर खडा न रह सका और जिधर से आया था, उसी ओर बेतहाशा दौड पडा।

तभी उसे एक जोर की ठोकर लगी और वह मुँह के बल गिर पडा। अनायास ही उसके मुह से यह शब्द निकल पडा—चाची!

और तभी उसकी आँखे खुल गयी। देखा—सामने के बडे मकान की चोटी पर थोडी-सी धूप आ गयी थी। उसका हृदय कुछ चौंका सा। वह झटपट उठा और दूसरी ओर आ कर सीधे सीढियो पर चढने लगा। उसे लगा जैसे एक किनारे पर उसके पिता जी खडे है। उनका एक एक शब्द बार-बार उसे अदर की ओर ढकेलने लगा। और दूसरे किनारे पर थी खूख्वार चाची—जिसकी एक एक मुद्रा उसे आगे नही बढने देती थी।

पर तभी जैसे उसने देर करना उचित नही समझा। चाची की जहरीली आँखें उसके सामने नाच गयी। वह झटके से भीतर चला गया और रात के जूठे बरतनो को ले कर सडक के नल की ओर चल पडा।

—३२ बडा बाजार, मल्लीताल,
नैनीताल।

दो कविताएँ

रमेशचन्द्र शाह

शरत्पूर्णिमा : पूर्वराग

यह शरद की साझ—धरती के गुलाबी
या गगन के नीलकमलो मे रचाती,
शून्य की सैकत हथेली मे अचानक
दूबछाँही चाँद की कविता उगाती।

किन विराटो को समर्पित, आज अपना
मागती सायुज्य—थिर यह राग-रचना?
क्या दिशाओ की निविड सपवितयो मे
मचली है देह भगुर धर्म अपना?

सृष्टि का वह कोन सा सपना सनातन
पूर्ण होने जा रहा है आज इस क्षण?
सत्य का निर्मिलाश्रयी सौदर्य उज्ज्वल,
राग का परिपूर्ण प्रज्ञा-पारदर्शन?

दीठ उठी तो

दीठ उठी तो उजले-धोले
खिले मेघशिशु
राशि-राशि बिखरे फलो मे
हसते स्वप्न हठात!

दीठ खो गयी
जैसे भूला हास किसी का
राशि-राशि सज गया शून्य मे
ज्योतिमय अवदात!

कितनी मोहमयी यह ठिठकन,
अभी-अभी तो
आत्मलीन निस्सग अकेली
घूम रही थी यही चादनी रात,
अभी न जाने कहाँ-कहा के
किन बिछुडो का टेर,
घेर सबको आचल मे,
मुग्ध आत्महारा सी पथ मे ठिठक गयी है।
कितनी मोहमयी
ममता की मूरत ज्यो साक्षात . !

आह! नही यह ममता
केवल केवल करुणा,
या केवल जड सयोगो का
एक अन्ध सघात।
और चादनी
इन मेघो की घनीभूत ममता से लिपटी
उतनी ही अनछुई
और अवदात।

अंग्रेजी विभाग
मोतीलाल विज्ञान महाविद्यालय, भोपाल।

अमीक हनफी

उर्दू की तीन नयी कविताएँ

अकेली रात

सुन लो,
जब से तुमने घर छोड़ा है,
तब से कुछ का कुछ होता है।
रात—रुपहली बनारसी साड़ी में लिपटी,
बाल सँवारे,
और माँग में अफशाँ छिड़के,
सड़कों-सड़कों, गलियों गलियों, कूचों-कूचों,
फिरते-फिरते,
अपने कमरे की (अब जो मेरा कमरा है)
खिड़की को खुला हुआ पा कर,
चोरी-चोरी, दबे पाँव घुस आती है,
और पुरानी, जानी-पहचानी,
चुलबुली अदाएँ दिखला कर
अपने पीछे पीछे, मुझको
आवारागर्दी करने पर उकसाती है।
और कभी,
खद्दर की काली धोती में बदन समेटे,
कंधों पर सूखे बालों को बिखराये,
चुपचाप अँधेरे कमरे में दाखिल हो कर
(बेतरतीबी से बिखरी चीजों में उलझा
अपनी धोती का खुलता पल्लू पकड़े
गहरे घन अँधेरे में गिरते पड़ते)
मेरी आखों की झीलों में
गिर जाती है।

तन्हाई

पागल रात,
एड़ी तक लटकाये बाल,
भागती फिरती है बेहाल,
खोल रही है काली अबा[1] के
सारे बंद।
शर्म के मारे
सारे तारे
आखों पर रखे है हाथ।
वो आयी, वो आयी जमीं पर
काली अबा वो आयी।
एड़ी से ता नाफ,[2]
नाफ से सर तक नंगी रात।
मेरा आधा खाली बिस्तर
जिसकी शिकनों की चोर आखें
देख रही है ये नज्जारा[3]
लेकिन चारा।

रात

मेरे सीने पर किसी का सर नही,
मेरे शानों[4] पर किसी की रेशमी जुल्फे नही,
बल्कि काला, सख्त, बेढ़गम पहाड,
जिसकी चोटी पर घने फैलाव वाला झाड,
जिसकी फुगी पर अटक कर हिल रहा है
इक कटा पीला पतग—जर्द चॉद।
किसकी नीद !
किसकी रात !
किसका दमाग !
बोझिल आँखो के उफुक[6] पर कुछ घटाएँ
चॉद की प्याली की जर्दी मे भिगो कर जपा पर
खीचती है बेसरोपा नक्श[7] ।
पुतलियो मे रेगती है नागिने
केंचुली पल-पल बदल कर ।
दिल मे इक बेनाम ख्वाहिश
अपनी आँखे मूद कर करवट बदलती है ।
दिल पे इक बावज्न[8] लय की थाप पडती है—मगर
रक्स[9] करते ही नही अलफाज ![10]
साजे मअना[11] से निकलती ही नही आवाज ॥

शब्द सदर्भ [1]गाउन। [2]एडी से नाभि तक। [3]दृश्य। [4]कधो। [5]बेतुका, ऊलजलूल। [6]क्षितिज। [7]चित्र। [8]छदबद्ध। [9]नृत्य। [10]शब्द। [11]भावाभिव्यक्ति का वाद्य, मतलब यह कि भावार्थ मन ही मे निहित रह जाता है, प्रकट नहीं हो पाता। तीसरी कविता की सातवीं, आठवीं, नवीं पक्तियाँ गालिब के इस मशहूर शेर पर व्यग्य करती है

नींद उसकी है, दमाग उसका है, रातें उसकी हैं,
तेरी जुल्फें जिसके बाजू पर परीशाँ हो गयीं ।

—प्रोग्राम एक्जीक्यूटिव,
आकाशवाणी,
मालवा हाउस, इदौर ।

हीरा प्रसाद त्रिपाठी

प्राविधिक शब्दावली के वैज्ञानिक आधार

प्राविधिक तथा वैज्ञानिक, दोनों शब्द परस्पर पूरक और अनुपूरक हैं। वैज्ञानिक का अति सामान्य अर्थ विवेकपूर्ण और तर्कयुक्त होता है। जो विषय प्राविधिक होगा, उसमें वैज्ञानिकता स्वतः सन्निहित होगी। वैज्ञानिकता से रहित प्राविधिकता निश्चित रूप से अपूर्ण एवं असाधित ही रहेगी। स्वयं भाषा का वैज्ञानिक विवेचन भाषाशास्त्र का विषय है और इसीलिए भाषाशास्त्र भी प्राविधिक विषयों के अन्तर्गत है। किंतु अन्यान्य वैज्ञानिक तथा प्राविधिक विषयों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा ही होती है। अतः विभिन्न प्राविधिक ज्ञान के क्षेत्र में भाषा के शब्दगठन तथा रूपनिर्माण का विषय निश्चित रूप से प्राविधिक होगा। प्रस्तुत लेख में हम विधि के क्षेत्र में, प्राविधिक शब्दावली के निर्माण तथा प्रयोग की कतिपय व्यावहारिक कठिनाइयों की ओर संकेत करेंगे और तत्संबंधी प्रभिन्नता और विशिष्टता के आधारवर्ती कारणों का विवेचन भी। विधि के क्षेत्र में, प्राविधिक शब्दावली की वैज्ञानिकता का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक इसलिए है कि वह मात्र शास्त्रीय नहीं वरन व्यवहार सापेक्ष्य है। व्यावहार सापेक्ष्य होने के कारण ही, विधि के क्षेत्र में शब्द-निर्माण, भाषा-विन्यास, तथा प्रवाह आदि की समस्याएँ मूलतः अन्य प्राविधिक क्षेत्रों के समान होते हुए भी, प्रभिन्न हैं। यह प्रभिन्नता ही विधि के क्षेत्र में, प्राविधिक शब्दावली की विशिष्टता और उसकी उपादेयता को सिद्ध करती है।

विधि के क्षेत्र में प्राविधिक शब्दावली का निर्माण अपनी प्रकृति से ही वैज्ञानिक है। अन्य प्राविधिक ज्ञान के क्षेत्रों में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के कारण उत्पन्न भाषा संबंधी समस्याएँ हैं और हिंदी में वे समस्याएँ मुख्यतः बोधगम्यता, सरलता और प्रवाह आदि के संबंध में हैं। किंतु विधि के क्षेत्र में परंपरा, दीर्घकालीन प्रयोग, मूल विषय की अर्थवत्ता की जटिलता, परिणामी निर्वचनों के संबंध में जागरूकता, निर्माण संबंधी प्रेरक नीति, जनजीवन पर उसके व्यापक प्रभाव आदि के कारण, भाषा का स्वरूप सर्वथा भिन्न है। इस संदर्भ में वस्तुस्थिति का आभास कुछेक उदाहरणों से मिल सकता है। अंग्रेजी शब्द है--'म्यूटेशन'। इसका प्रयोग भारत में, विधि के क्षेत्र में कार्य करने वालों के बीच, एक शताब्दी से अधिक समय से होता आ रहा है। किंतु इस शब्द के लिए हिंदी पर्याय निर्धारित करने में एक समस्या सी उत्पन्न हो जाती है। इस शब्द के लिए 'उत्परिवर्तन' और 'नामांतरण' दो हिंदी पर्यायों को लीजिए। मात्र ध्वनि के आधार पर सामान्यतया 'नामांतरण' को सरल और 'उत्परिवर्तन' को क्लिष्ट कहा जाता है। किंतु 'नामांतरण' में अर्थ की वह समग्रता नहीं है, जो वैधिक प्रक्रिया से संबंधित

'म्यूटेशन' शब्द की अथवत्ता मे है। 'उत्परिवतन' के साथ उस अथवत्ता की सपूणता का सामजस्य ह। वैधिक कायवाही की एक शृखला को एक शब्द द्वारा अथ देने के लिए 'उत्परिवतन' शब्द का चयन अधिक वज्ञानिक है। प्राविधिक शब्दावली के निर्माण और निर्धारण के लिए इतना विवेक आवश्यक है तथा यही पद्धति वैज्ञानिक है। हिंदी मे यह समस्या इसलिए है कि विधि सबधी सपूण वाङ्मय की एक समुन्नत और भावाभिव्यक्ति मे पूर्णत सक्षम अग्रेजी भाषा की एक दीघकालीन जीवत परपरा भी हमारे समाने है। वैधिक साहित्य के निर्माण मे अग्रजी भाषा को ऐसी समस्या का सामना नही करना पडा था। बारहवी तेरहवी शताब्दी के इग्लैंड मे अग्रजी भाषा उतनी ही उपेक्षित थी जितनी कि ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन भारत मे हिंदी। किंतु '**सन १३६३ ई० मे स्टेट्यूट आफ प्लीडिंग' नामक विधान पारित किया गया, जिसने कचहरियो मे, अग्रेजी का व्यवहार सभव कर दिया। इसके पूव वहा कारोबार लटिन अथवा फ्रेंच भाषा मे होता था।**'[1] तात्पय यह कि विधि के क्षेत्र मे, अग्रजी वाङ्मय के निर्माण मे, अभिव्यक्ति का माग प्रशस्त था। कथ्य और कथन के बीच कोई व्यवधान नही था। अग्रेज जाति के वैधिक साहित्य का निर्माण अग्रेजी भाषा मे अग्रेजी न्यायतत्र को चलाने के लिए किया जा रहा था। किंतु हिंदी मे वैधिक साहित्य का निर्माण उतना सहज और सरल नही है। विचार और अभिव्यक्ति, कथ्य और कथन के बीच विदेशी भाषा का एक व्यवधान है, मा यमगत एक अवरोध है।

ऐसे शब्दो के अतिरिक्त, जिनकी अथवत्ता मे वैधिक प्रक्रिया अतग्रस्त रहती है, ऐसे प्राविधिक शब्द भी है जिनके साथ दीघकालीन प्रयोग के कारण प्रभिन्न अथ और कही-कही विपरीत अथ भी जुडे रहते है। उदाहरण के लिए हम 'कटेंड' शब्द को ले सकते है। इस शब्द के साथ दो पकार की अयध्वनिया ही नही जडी हुई है बल्कि इसका प्रयोग दो प्रभिन्न अर्थों मे किया जाता है। ऐसे शब्द के लिए यदि इस आशा पर हम एक ही हिंदी पर्याय का प्रयोग करना प्रारभ कर दें कि कालातर मे सतत प्रयोग के बल पर, वह शब्द दोनो प्रकार के अर्थों को समन्वित कर लेगा, तो भाषा मे अतिरिक्त दुर्बोधता बढेगी। ऐसी स्थिति मे, दो सुव्यक्त अर्थध्वनियो के लिए दो पर्यायो का निर्धारण ही श्रेयस्कर होगा। 'सकथन करना' और 'प्रतिवाद करना' दोनो पद, दो प्रभिन्न अथवत्ता को अभिव्यक्त करते है। प्रथम द्वारा सकारात्मक निश्चयकथन का प्रतिपादन किया जाता है और दूसरे मे नकारात्मक अभिवचन द्वारा प्रतिपक्षी के प्रतिपाद्य अभिवचन का खडन किया जाता है। किंतु इस प्रकार के प्राविधिक शब्दो का श्रेणी विभाजन, विधि के क्षेत्र मे, विशेष प्रकार की वस्तुस्थिति को समझने-समझाने के लिए ही है। समस्या मूलत व्यावहारिक स्तर की है।

जैसा ऊपर सकेत किया जा चुका है, भारत मे सपूण वैधिक वाङ्मय अग्रजी भाषा म ही प्राप्य है। इसकी परपरा लगभग दो सौ वर्षों की है। किंतु व्यावहारगत उपयोगिता तथा जनजीवन पर उसके प्रचलन के प्रत्यक्ष प्रभाव के कारण, इस क्षेत्र की स्थिति सवथा भिन्न है। साहित्य मे तो अपनी पूर्ववर्ती परपरा को आत्मसात कर के नवनिर्माण की नूतन धारा चल पडती है, किंतु विधि

---

[1] अग्रेजी भाषा और साहित्य---पृ० स० २७---डॉ० राम अवध द्विवेदी।

के क्षेत्र मे अब तक भाषा सबधी ऐसी स्थिति विकसित नही हो जाती कि विधि सबधी सामग्री, निर्माण की अवस्था से ही, विधायको के समक्ष हिंदी मे ही प्रस्तुत की जाय और वैचारिक धरातल पर विचार-विमर्श भी हिंदी मे ही हो तथा उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के न्याय-मूर्तिगण हिंदी मे ही अपने निर्णय लिखे, यह कठिन है। वर्तमान स्थिति को देखते हुए तो ऐसा लगता है कि विधि के क्षेत्र मे भाषा सबधी ऐसी अवस्था के आने मे अधिक विलब है। भाषा सबधी ऐसी उपलब्धि से सबधित मुख्य समस्या है कि जब विधि विषयक सपूर्ण वाड्मय अग्रेजी भाषा मे प्राप्त है और उसी माध्यम से देश का न्यायतत्र सचालित है तथा उसका महत्व उच्चादर्शों अथवा सास्कृतिक प्रेरणा के कारण नही वरन देश के जनजीवन के नियत्रण, अनुशासन तथा न्याय्य प्रशासन के कारण है, तब हिंदी भाषा मे उक्त स्थिति के अनुरूप सामग्री भी है? इस सबध मे अतिम रूप से मान्यता तो देश के शासन द्वारा ही प्रदान की जायगी किंतु प्रत्येक दृष्टि से अग्रेजी के ही समकक्ष, वैधिक भाषा के निर्माण की समस्या को प्राथमिक महत्व दिया जाना चाहिए। एतदर्थ कारण यह कि मान्यता प्राप्त हो जाने के बाद भी यह समस्या अपनी जगह पर वर्तमान रहेगी। मान्यता की पूर्वभावी शर्त के रूप मे ही इस समस्या को रख कर, अनिश्चित काल के लिए तद्गत प्रश्न को निबटा भी दिया गया है।

कुछ प्राविधिक शब्दो का विवेचन वैधिक आवश्यकता के सदर्भ मे किया गया है। ऐसे ही शब्द वैधिक साहित्य के मेरुदड है, और अशत प्रजातत्र और न्यायतत्र के भी। ऐसे प्राविधिक शब्दो के निर्माण के लिए, हमे अनेक स्रोतो से, पर्याप्त परीक्षण और दूरदर्शिता के साथ, सामग्री का चयन करना होगा। अग्रेजी के अतिरिक्त, विधि के क्षेत्र मे जिस भाषा का व्यवहार हमे मिलता है, वह अरबी-फारसी शब्दबहुला है। इतना ही नही, ऐसी भाषा की वाक्य रचना भी अरबी-फारसी के व्याकरण की अनुरूपिणी है। विधि के क्षेत्र मे प्राविधिक शब्दावली के निर्माण की प्रक्रिया मे एक ओर तो किंचित बाध्यता के कारण सस्कृतनिष्ठ शब्दावली का चयन करना पडता है, दूसरी ओर अवर न्यायालयो मे प्रयुक्त होने वाली देशी भाषा के नाम पर हमे उक्त अरबी-फारसी मिश्रित भाषा ही मिलती है। किंतु सत्य यह है कि दोनो ही प्रकार की शब्दावली जनसाधारण के लिए बोधगम्य नही है। इसी बिंदु पर आमफहम भाषा की बात उठायी जाती है। किंतु विधि के क्षेत्र मे, निरपेक्ष रूप मे, आमफहम भाषा के प्रयोग की बात अविवेकपूर्ण है। भाषा, विचारो और भावो की अभिव्यक्ति का माध्यम है। प्राविधिक साहित्य मे किंचित दुरूहता और अस्पष्टता स्वत अतर्निहित है। किंतु यदि हम साहित्य के ऐसे अग को भी लें, जिसकी पठनीयता उसकी सफलता की पहली शर्त मानी जाती है, तो वहाँ भी हमे भावो और विचारो के स्तर के अनुसार भाषा की क्लिष्टता और सरलता सुस्पष्ट और सुव्यक्त रूप मे दिखायी पडेगी। किसी भाषा का एक जासूसी उपन्यास उठाइए और उसके साथ किसी स्तरीय सामाजिक उपन्यास की भाषा की तुलना कीजिए। अतर स्पष्ट हो जायगा। फिर वैधिक साहित्य की बात तो सर्वथा भिन्न है। 'इटरेस्टिंग लाइक लॉ बुक्स व्हिच सेंड द रीडर्स टु स्लीप' वाली कहावत काफी प्रसिद्ध है। और विधि के क्षेत्र मे, आमफहम भाषा की बाते स्वय मे अवैज्ञानिक और अतर्विरोधी है। इग्लैंड मे भी जन-साधारण विधि-प्रतिवेदनो और परिनियम-विधियो की भाषा को नही समझता।

आमफहम भाषा के महत्व को तथ्य-कथन के सदभ मे सापेक्ष रूप मे ही स्वीकार किया जा सकता है।

प्राविधिक शब्दावली के निर्माण के लिए हमारे समक्ष एक आर श्रोत है किंतु जीवन के मूल्यो और मान्यताओ मे परिवतन आ जाने के कारण उससे प्राप्य शब्दो की अथध्वनियो की उपयोगिता सदिग्ध हो गयी है। यह श्रोत है भारत की प्राचीन न्याय पद्वति। इस सदभ मे दो उदाहरण पर्याप्त होगे। मनुस्मृति म 'दड' शब्द का प्रयोग इतने अधिक और प्राविधिकता की दृष्टि से परस्परविरोधी अर्थो का आभास देने वाले सदर्भो मे हुआ है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि 'दड' शब्द का प्रयोग, 'कन्विक्शन', 'पनिशमेंट' आदि आपराधिक विवादो की प्रक्रिया की परिणति सबधी विनिश्चय को व्यक्त करने के लिए किया गया है अथवा उसका प्रयोग 'जस्टिस' या 'लीगल 'कान्शेस' के अथ मे किया गया है। अथ की यह अस्पष्टता केवल मनु स्मृति मे ही नही, महाभारत तथा अन्य विधि के श्रोतो मे भी पायी जाती है। सामूहिक रूप मे, जनसामान्य को 'न्याय' उपलब्ध कराने मे, 'दड' अथवा 'दडव्यवस्था' मात्र साधन है। 'दड' को ही न्याय के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त करना मूल विषय के सुस्पष्ट चिंतन, सुनिर्धारित धारणा और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव का ही द्योतक है। दूसरा शब्द है 'उपनीत'। प्राचीन साहित्य मे इसका प्रयोग किसी आप्तवाक्य अथवा ग्रथ को बौद्धिक वादविवादो मे अपने सकथन को प्राधिकारिक रूप मे स्थापित करने के लिए, प्रमाण के रूप मे, प्रस्तुत करने के अथ मे किया गया है। और आज समस्त न्यायालयो मे, किसी प्रतिवेदित निणय को, अपने सकथन को प्राधिकारिक रूप मे स्थापित करने के लिए, प्रमाण के रूप मे, न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करने की प्रक्रिया के लिए 'साइट' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस शब्द के लिए यदि हम 'उद्धरण देना', 'प्रमाण देना', 'साक्ष्य के रूप मे प्रस्तुत करना' आदि अभिव्यक्तियो का प्रयोग करे तो जटिलता ही उत्पन्न होगी, क्योकि इस प्रकार के सामान्य किंतु शिथिल तथा अनिर्धारित अथवत्ता की परिधि के अतगत समान पर्याय के आभासी शब्दो के साथ वैधिक प्रक्रिया अथवा दीघकालीन प्रयोग के कारण सुनिर्धारित प्राविधिक अथ जुडे हुये है। और चूकि 'उपनीत' शब्द उस अभिव्यक्ति के सपूर्ण अथ की सटीक व्यजना के लिए सक्षम है, इसलिए इस शब्द को स्वीकार कर लेना वैज्ञानिकतासम्मत होगा।

यहा आमफहम भाषा के स्वरूप और उसकी ग्राह्यता के औचित्य के सबध मे सक्षिप्त चर्चा आवश्यक है। हिंदी मे आमफहम शब्दो को हम सुविधा की दृष्टि से तीन वर्गो मे विभक्त कर सकते है। प्रथम वग उन तद्भव और देशज शब्दो का है जो अपने उदगम और अत प्रकृति के कारण निर्विवाद रूप से हिंदी परिवार के है। दूसरा वग उन शब्दो का है जिनका मूल स्रोत अरबी और फारसी भाषाएँ है किंतु हिंदी भाषियो के सदियो पुराने उपयोग और स्वर साहचय के कारण जो हिंदी के अपने हो गये हैं। अन्य सटीक प्राविधिक पद के अभाव मे, हम ऐसे शब्दो को उर्दू कह सकते है। तीसरे प्रकार के वे शब्द है जो सीधे अग्रेजी भाषा से आये है किंतु अपने अनेकरूप भावाकषण और उपयोगिता के कारण हिंदी शब्द-परिवार मे स्थायी महत्व के हो गये है। इन तीनो स्रोतो से निकले हुये आमफहम शब्दो की पर्याप्त सख्या प्राविधिक है तथा अर्द्धप्रा-

विधिक और सामान्य रूप में भी अपनी सूक्ष्म और सक्षम अभिव्यक्ति के कारण ऐसे शब्द उपयोगिता की दृष्टि से अवश्यग्राह्य हैं। उदाहरण के लिये अंग्रेजी का 'फाइल' शब्द लीजिए। पत्रावली वाले अर्थ के अतिरिक्त, क्रियापद के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इस शब्द के लिए दो उर्दू पर्याय हैं—'दायर' और 'दाखिल'। दोनों शब्द मूल शब्द की प्राविधिक अर्थवत्ता को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ और सक्षम हैं। किंतु किसी सैद्धांतिक आग्रह के साथ आमफहम शब्दों के प्रयोग पर बल देना अविवेकपूर्ण होगा। कितने ही ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ अशिक्षित जनसमुदाय समझता है और वे दैनिक जीवन की बोलचाल में घुलमिल गये हैं। किंतु बोलचाल में घुलमिल जाने के आधार पर ही प्राविधिक विषय के लिए भी उनकी उपयोगिता का समर्थन मिथ्या धारणा पर आधारित है। उदाहरण के लिए 'मैजिस्ट्रेट' शब्द को लिया जा सकता है। उच्चारणगत किंचित परिवर्तन के साथ यह शब्द अशिक्षित ग्रामीण के लिए उतना ही परिचित है जितना उसका 'हल' और 'बैल' किंतु प्राविधिक भाषा के निर्माण के लिए यदि इस शब्द को ज्यों का त्यों, अथवा स्वराघात के कारण उत्पन्न किंचित परिवर्तन के साथ, स्वीकार कर लिया जाय तो 'मैजिस्ट्रेसी' को भी स्वीकार करना होगा। ऐसी अवस्था में आमफहम भाषा का नीरक्षीर न्याय प्राविधिक भाषा में तिलतंदुल न्याय हो जायगा। किंतु 'लैंटन' और 'एंजिन' को 'लालटेन' और 'इंजन' के रूप में स्वीकार न करना भी दुराग्रह मात्र होगा।

विधि के क्षेत्र में प्राविधिक शब्दावली के निर्माण के संदर्भ में, अखिल भारतीय उपयोग को आधार के रूप में ग्रहण करना ही होगा। यह राष्ट्रभाषा के गौरव के अनुरूप और व्यवहारिकतासम्मत तो है ही, साथ ही साथ, यह अत्यंत ही सहज अनिवार्यता भी है। यह सुस्पष्ट सत्य है कि कोई भारतीय भाषा देश की राष्ट्रभाषा हो या न हो, संपूर्ण देश का न्यायतंत्र एक ही भाषा के माध्यम से संचालित किया जा रहा है और उच्चतम न्यायालय के किसी भी निर्णय की जितनी मान्यता और महत्व उत्तर प्रदेश के किसी अवर न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय में है, उसकी उतनी ही मान्यता और महत्व केरल, बंगाल और आंध्र प्रदेश के न्यायालयों में भी है। यह एक वैधानिक सत्य है कि हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है। अखिल भारतीय उपयोग के संदर्भ में, वैज्ञानिकता का समर्थन करने वाले तत्व हमें स्वतः सुलभ हैं, जो मूलतः भारतीय संस्कृति की भाषा संबंधी एकसूत्रता के समर्थक और पोषक हैं। अहिंदी भाषाभाषी प्रदेशों की भाषाओं में बँगला, मराठी, गुजराती, तमिल और तेलुगू आदि भाषाओं में संस्कृत के शब्दों का ही बहुमत है। किस भाषा में कितने प्रतिशत संस्कृत के शब्द हैं, इस संबंध में भी आँकड़े प्रस्तुत किये गये हैं। किंतु मोटे तौर पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि अहिंदी भाषाभाषी प्रदेशों की उक्त भाषाओं में पचास प्रतिशत से अधिक शब्द, संस्कृत अथवा संस्कृत उद्‌गम के हैं। ऐसी अवस्था में यदि ऐसा भी हो (जो प्राविधिक शब्दावली के निर्माण संबंधी अनुभवों से सिद्ध है) कि संस्कृत भाषा प्राविधिक शब्दावली के निर्माण के लिए संपन्न, सक्षम और वैज्ञानिक दृष्टि से उपयोगी स्रोत भी सिद्ध हो सकती है, तो ऐसी स्थिति को मणिकांचन योग ही समझना चाहिए।

—४२९ (नया नंबर), मुट्ठीगंज, इलाहाबाद।

अगरचंद भँवरलाल नाहटा

महाराजा विक्रम और खापरा चोर

संसार मे भले और बुरे सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। जिस तरह महापुरुषो की कथाएँ उनके गुणो के कारण लोकादर प्राप्त करती है, उसी तरह कई चोरो एव डाकुओ की बाते भी कतिपय विशेषताओ के कारण बहुल लोकप्रिय हो जाती हैं। 'खापरा चोर' भी ऐसा ही एक व्यक्ति था, जिसके सबध मे बहुत सी लोककथाएँ प्रचलित है। वह कब हुआ, यह निश्चित रूप से तो नही कहा जा सकता, फिर भी लोककथाओ मे उसका सबध महाराजा विक्रमादित्य से जोडा गया है। अत करीब दो हजार वर्षो से उसकी कथाएँ समाज मे प्रचलित है। परवर्ती कथाओ मे महाराजा भोज और गुजरात के राजा के साथ भी उसका सबध जोडा गया है। प्राप्त कथाएँ अनेक प्रकार की है। उनसे मालूम होता है कि खापरा चोर एक नही, कई हुए होगे। किसी प्रभावशाली, शक्तिशाली और चतुर चोर की सज्ञा के रूप मे ही 'खापरा चोर' शब्द का प्रयोग होने लगा। प्राचीन सस्कृत ग्रथो को देखने से लगता है कि मूल नाम 'कपर' था जिसका अपभ्रश 'खर्पर' या 'खापरा' हो गया। स० १४९९ मे रचित जैन विद्वान शुभशील के 'विक्रमचरित्र' मे खापरा चोर की उत्पत्ति भी बतलायी गयी है। उक्त ग्रथ के तृतीय सग के चौदहवें और पद्रहवे प्रकरण मे खापरा चोर के जन्म से मरने तक का वृत्तात विस्तार से दिया है। यहाँ उसका सक्षिप्त साराश दिया जा रहा है।

खप्पर नामक चोर ने रात्रि मे राजमहल से रानी कलावती का हरण कर लिया। उसकी खोज के लिए सिपाही आदि भेजे गये, लेकिन उसका पता नही चला। तब राजा स्वय ही नगर मे भ्रमण करने लगे और किसी मदिर मे जा कर चक्रेश्वरी की प्रार्थना करने लगे। उससे देवी प्रकट हुइ और वरदान माँगने को कहा। राजा ने स्वरूप वरदान मागा। देवी ने उसकी उत्पत्ति से अत तक हाल सुनाया। प्रसगात धनदत्त और गुणसार की कथा कही। गुणसार विदेश गया। उसके चले जाने के बाद कोई पिशाच उसका रूप धारण कर उसकी पत्नी के साथ रहने लगा। अत मे सच्चा गुणसार वापस आया तो कपट का भेद खुला। कपटी गुणसार द्वारा स्थापित गर्भ को रूपवती ने फेंक दिया और देवी उसे उठा ले गयी। वह खप्पर मे फेंका गया था जिससे उसका नाम 'खप्पर' रखा गया। उसको देवी गुफा मे ले गयी और वरदान दिया। राजा विक्रमादित्य देवी के मुख से यह सारा हाल सुन कर बहुत प्रसन्न हुए।

इसके बाद रात्रि मे नगर-भ्रमण कर के राजा भिखारी का वेष धारण कर के देवी के मदिर मे बैठ गये। उधर खप्पर को कोई साधु मिलता है। उससे वह चोर विक्रम से भेंट होने के विषय

मे पूछता है तब वह बताता है कि—'आज ही विक्रम मिलेगा।' त्वरित गति से मदिर मे जा कर खप्पर उनसे मिलता है। राजा भी उसको देख कर निर्णय कर लेते है कि वह चोर ही है और उसके आगे कपट-वार्ता करते है। फिर दोनो मे भीषण सघर्ष होता है और अत मे खप्पर अपनी ही गुफा मे मारा जाता है। राजा की विजय होती है और कलावती का भी पता चल जाता है।

हिंदी के प्रसिद्ध कवि जायसी ने अपने 'पद्मावत' मे 'खरभरा चोर' का उल्लेख किया है—**जस खरभरा चोर मति कीन्ही, तेहि विधि सेंधि चाहगढ़ दीन्ही।** डॉ० अग्रवाल ने अपनी व्याख्या के प्राक्कथन मे लिखा है कि 'खरभरा चोर' उस चोर के लिए मध्यकालीन शब्द था जो खलबली मचा कर या चुनौती दे कर चोरी करता था।

जैन कवियो ने 'खापरा चोर' की कथा को ले कर राजस्थानी भाषा मे कई स्वतत्र काव्य रचे है। सर्वप्रथम कवि राजशील ने 'खापरा चोर चरित्र या रास' की रचना स० १५६३ मे चित्तौड मे की। उसी काव्य का कथासार प्रस्तुत लेख मे प्रकाशित किया जा रहा है। इसके बाद, अभयसोम ने स० १७२३ मे एक रास बनाया। फिर लाभवर्धन ने स० १७२७, जेतारण विक्रम ९०० मे कन्या तथा खापरा चौपाई की रचना की। ये तीनो कवि खरतरगच्छ के थे और राजस्थान मे ही इनके काव्य रचे गये। राजस्थानी गद्य मे भी खापरा चोर की अनेक बातो का उल्लेख मिलता है। मुहणोत नेणसी की ख्यात मे भी खापरा चोर का एक विशिष्ट प्रसग वर्णित है। मौखिक रूप से भी अनेक प्रकार की बाते कही जाती है, जिनके सबध मे श्री मनोहर शर्मा आदि के लेख प्रकाशित हो चुके है। पर प्रस्तुत लेख वाला प्रसग उनसे भिन्न है।

उपाध्याय राजशील रचित 'खापरा चोर चौपाई' का कथासार

त्रिभुवन पूज्य जिनेश्वर देव और शारदा को नमस्कार कर उपाध्याय राजशील विक्रम-खापरा चोर का रास प्रारभ करते है। उज्जयिनी नगरी विशाल और समृद्धिशाली है जहा देवताओ का अधिस्थान है। स्वर्ण-कलश वाले देवालय सुशोभित इस देश मे सदा सुकाल रहता है। अप्रतिम साहस और शौर्य के लिए विश्वविश्रुत महाराज विक्रम के इस राज्य मे धूलधाम नामक तलारक्षक, सुदत श्रेष्ठी, रूदा कलाल तथा ब्राह्मण विजयचद निवास करते थे। खापरा चोर ने अपने नृशस कर्मो से उज्जयिनी मे धूम मचा रखी थी। वह मोर की भाँति पर्वतो का उल्लघन कर गायब हो जाता था। एक बार स्त्री-राज्य देखने के लिए प्रवासी होने के बहाने राजा विक्रम निकला और छद्मवेश मे गुप्त रूप से आ कर नगर मे घूमने लगा। राजा की अनुपस्थिति से लाभ उठा कर खापरा चोर की गतिविधि बढ गयी और वह अघोर पाप मे रत हो गया।

एक दिन सेठ सुदत ने अपने यहाँ एक विशाल आयोजन किया, जिसमे बहुत बडी सख्या मे स्वजन-सबधी सम्मिलित हुए। नौ सौ कुमारी कन्याएँ एकत्र हो कर उत्सव मे खेला रास कर रही थी जिन्हे खापरा चोर ने बडे नाटकीय ढग से उडा लिया और जिसका किसी को पता न चल सका। श्रेष्ठी सुदत को जब यह ज्ञात हुआ तो उसका चेहरा एकदम उतर गया और वह दिन रात कन्याओ को ढूढने के लिए घूमने लगा। सयोगवश सेठ राजा की दृष्टि मे पड गया। उसने धन और कन्याओ का उद्धार करना अपने जिम्मे ले कर सेठ को आश्वस्त किया।

तलारक्षक ने दुर्दमनीय चोर के भय से कहा, "चोरों के अड्डे, गणिकाओं के घर, द्यूतागार आदि सब खोज लिये। गुप्तचरों का जाल फैला दिया पर चोर का पता नहीं लगता। वह न तो खान खोदता है, न लौह यंत्र तोड़ता है। मंत्र बल से वह क्षण मात्र में चोरी करके गायब हो जाता है।" राजा ने उसे हाथी, घोड़, पदाति का विशेष सहायता दी और प्रहर रात्रि के बाद 'कर्फ्यू आर्डर' लगा दिया पर चोर किसी प्रकार भी पकड़ा न जा सका। अंत में राजा स्वयं वेताल को साथ लेकर निकल पड़ा। वह उज्जैन के राजमार्गों पर घूमता हुआ गढ़ मठ-मंदिरादि निरीक्षण करता श्मशान घाट जा पहुंचा। चौसठ योगिनियां अपने अधिस्थल में मदोन्मत्त हो कलरव कर रही थीं। भूत प्रेतों के अट्टहास के बीच घूमता हुआ विक्रम राजा महाकाल के प्रासाद में गया और पूजा-भक्ति द्वारा महाकाल को प्रसन्न कर चोर को पकड़ाने की प्रार्थना की। महाकाल ने कहा, "चोर को वश में लाना सहज नहीं, वह तो मेरे से भी नहीं टला। उसने तो मेरे आभरण और पूजोपकरण भी चुरा लिये।"

महाकाल ने इस प्रकार अपनी असमर्थता बताते हुए हरसिद्धि देवी से पूछने को कहा। हरसिद्धि के मंदिर में जाने पर देवी ने कहा, "राजन! मैं भी सिद्ध चोर का स्थान नहीं जानती। तुम सिद्धि-बुद्धि दाता गणपति से इस विषय में सहायता लो।" राजा विक्रम गणपति के मंदिर में गया और चोर का पता पूछने लगा। इतने ही में चोर आ पहुंचा और द्वार खोल कर गणपति पर मुष्टि-प्रहार करने लगा। गणपति कांपते हुए कहने लगे, 'मत मारो! मत मारो!।' इसके बाद उसने विक्रम से पूछा, "तुम कौन हो?" विक्रम ने उसे चोर जान कर अपना बनावटी परिचय इस प्रकार दिया, "मैं खरहत्थ भारवाहक हूँ। उज्जैनी में वणिक के घर भार ढोता हूँ और गणपति की त्रिकाल पूजा करता हूं। आगे मैं चोरी भी बहुत करता था पर आजकल कोई साथी नहीं मिलता।" खापरा चोर ने कहा, "खरहत्थ! तुम मेरे साथ चलो, चोरी कर के बहुत सा धन ले आवें।"

गणपति मंदिर से निकल कर खापरा और खरहत्थ (विक्रम) दोनों रूढा कलाल के यहां गये। खापरा ने उससे कहा, "बहुत सा मद दो। तुम्हारा काम सिद्ध कर दूंगा।" कलाल ने कहा, "केवल बातें बनाते हो, झूठे कहीं के।" खापरा ने कहा, "पांचवें दिन राजा को मार कर तुम्हें राज्य दूंगा।" कलाल ने यथेष्ट मद दिया। खापरा ने दो घड़े कावड़ में भर कर राजा के कंधे पर रखे और मालिन के घर का मार्ग पकड़ा। मार्ग में आगिया वेताल ने राजा से मद माँगा। अंत में राजा के सुगंध लेने की आज्ञा देने पर वेताल ने एक घड़ा मद खाली कर डाला। कॉवड का संतुलन बिगड़ जाने से दूसरा घड़ा गिर कर फूट गया। खापरा के क्रुद्ध हो कर तलवार खींचने पर राजा तुरंत पलायन कर गया। चोर खड्ग लिये पीछा कर रहा था। राजा एक ब्राह्मण के घर में प्रविष्ट हुआ जहाँ एक तरफ एक क्रुद्ध गाय सींग मारने को तैयार थी और दूसरी ओर एक सांप था। बाहर खापरा चोर का भय था। अतः राजा शरीर सिकोड़ कर कोने में खड़ा हो गया। इतने में गाज से धमक कर ब्राह्मण जगा और उसने, आकाश में नक्षत्रों की गति से, राजा को संकट में पड़ा देख अपनी पुस्तक निकाली। उसने ब्राह्मणी को उठा कर घी, गुड़, तेल, उड़द आदि माँगा पर उस कर्कशा के न उठने पर पंडित ने स्वयं सामग्री एकत्र कर आहुति दी जिससे सर्प भय दूर हुआ और खापरा चोर भी आगे चला गया। राजा विक्रम भी मालिन के यहाँ जा पहुँचा। उसने गुप्त रूप से सारी

मालिन के यहाँ खापरा को दावत खाते तथा बातें करते देखा। गागी ने कहा, "तुम्हें कितनी बार अपने भाणज पाल्हा को सम्हालने को कहा पर तुम नहीं ले गये।" खापरा ने कहा, "कहाँ है वह, मैं अभी उसे ले जाऊँगा।" गागी ने कहा, "न जाने कहाँ अवारागर्दी मे घूमता होगा। यदि तुम्हें मिले तो ले जाना।"

खापरा चोर मालिन के यहाँ से निकल कर थोड़ी दूर ही गया था कि राजा ने सामने से आ कर उसे प्रणाम कर कहा, "मामा! मैं गागी मालिन का पुत्र पाल्हा हूँ। आपके दर्शन पा कर मैं धन्य हो गया।" खापरा ने उसे चौर्य-कर्म के लिए अपने साथ ले लिया।

वे दोनों सिद्धवड के नीचे जा कर बैठे। थोड़ी देर मे रुडमाल, खप्पर तथा डमरुधारी एक योगी आ पहुँचा जिसने खापरा चोर को फल फूल भेंट किये। फिर एक ज्योतिषी ब्राह्मण आया और तत्पश्चात क्षपणक और सिद्ध चोर आ गये। इस प्रकार छ व्यक्ति एकत्र हो गये। सब लोग अपने-अपने गुणों का बखान करने लगे। योगी ने कहा, "मैं पाताल तक में स्थित धन के विषय मे बतला सकता हूँ।" ज्योतिषी ने कहा, "मैं मन की बात जान लेता हूँ।" कापालिक बोला, "मै बिना चाभी के ताले खोल सकता हूँ।" क्षपणक ने कहा, "मैं पशु-पक्षी की बोली से शकुन विचारता हूँ।" पाल्हा (विक्रम) ने कहा, "मै एक ही प्रहार मे शत्रु का मस्तक उडा सकता हू।" खापरा ने क्षपणक से शकुन पूछा तो वह बोला, "हम छहों के बीच मे राजा विक्रम है।" जब वह अपनी बात पर डटा रहा तो पाल्हा ने कहा, "व्यर्थ मत बको! आज खापरा से बढ कर कौन है? मैंने यदि विक्रम को देख लिया तो उसी पर धावा बोल दूगा।" खापरा ने प्रसन्न हो कर कहा, "शाबाश भाणेज! तुम्हारी जो इच्छा हो माँगो।" पाल्हा बोला, "क्षपणक के मस्तक पर मारो। अपने पाँच ही अच्छे है।" प्रहार खा कर क्षपणक चिल्लाने लगा। पाल्हा ने कहा, "मामा! वेश्या, ब्राह्मण, वणिक आदि की निकृष्ट कमाई पर न जा कर अपने तो राजा के घर धावा बोलें ताकि प्रचुर द्रव्य हाथ लगे।" खापरा ने उसकी बात मान ली और पाल्हा के नेतृत्व मे सभी चोर राजप्रासाद पर धावा बोलने चले। खात खोद कर महल मे प्रविष्ट होने पर उन्होंने मुद्राओं से भरे चार सौ स्वर्ण-कलश देखे। खापरा की आज्ञा से चोरों ने जितना ढो सके, धन ले लिया। क्षपणक ने सुना—बिल्ली कुत्ते से कह रही है, "चोरी होते देख कर भी तुम चुप क्यों हो?" कुत्ते ने कहा, "राजा स्वय चोरी मे शामिल है, अत चुप रहने मे ही बुद्धिमानी है।" पर यह सुन कर भी वह मार के डर से चुप ही रहा। फिर चारों चोर सिद्धवड चले गये। खापरा ने पाल्हा से कहा, "अब तुम भी घर जाओ, कल रात मे फिर मिलेंगे।" पाल्हा बोला, "मामा! विक्रम के अत पुर की मृगाक्षी सुदरियाँ देखने की बडी अभिलाषा है।" इस पर खापरा और पाल्हा दोनों राजमहल की ओर चले। कोट फाड कर खापरा भीतर प्रविष्ट हुआ तो आगे पाल्हा को खडा देखा। जेठी रानी ने जब सामने खापरा को देखा तब हर्षित हो कर उसने बहुत दिनों पर आने के कारण उपालभ देते हुए ताना मारा। खापरा ने भाणेज के सामने अपना अपमान देख कर पाटे का एक प्रहार किया जिससे जेठी रानी गिर कर मूर्छित होने लगी। खापरा ने उसे धमका कर अपने चरणों मे गिराया। विक्रम अपनी पटरानी का चरित्र देख कर अवाक रह गया। उसने मन मे सोचा—अब मै कुसुम-प्रहार करता हू तब तो रुष्ट हो जाती है और आज पाटे का प्रहार झेल कर भी प्रसन्न तथा सतुष्ट है। त्रिया चरित्र अगम्य है!

इसके बाद खापरा चोर स्नान, भोजन तथा शय्या-सुख मे सलग्न हुआ। पाल्हा को भी बडे आदर से भोजन करवाया। खापरा ने अपने भाणेज के लिए एक रानी की व्यवस्था कर देने की पटरानी को आज्ञा दी। उसने चेल रानी का बुलाने के लिए दासी को भेजा। चेल रानी के आने पर पटरानी ने उससे कहा, "विक्रम की आशा छोड कर और मेरा कथन मान कर तुम इस पाल्हा के साथ स्नेह सबध जोड लो।" चेल रानी ने शील का माहात्म्य बतलाते हुए स्पष्ट कह दिया कि वह महाराज विक्रम के अतिरिक्त अन्य किसी भी पुरुष को किसी भी हालत मे स्वीकार नही कर सकती। क्रुद्ध खापरा चोर उसकी चोटी पकड कर तलवार दिखाने लगा तो पाल्हा (विक्रम) ने कहा, "मामा ! अबला को छोड दो। मेरे लिए परस्त्री-गमन सर्वथा त्याज्य है।" खापरा ने चेल रानी को छोड दिया और रात भर पटरानी के यहाँ रह कर भाणेज के साथ गुफा के द्वार पर पहुँचा। गुफा मे घोर अधकार था। विक्रम खापरा से आगे-आगे चलने लगा। खापरा ने गुफा के द्वार पर बहत्तर गज की शिला रख दी।

खापरा और विक्रम (मामा भाणेज) दोनो गुफा के आभ्यतरिक कक्ष मे गये। वहा विक्रम ने रत्नाभरण-सुसज्जित नौ सौ कन्याओ को देखा। रानी तिलकसुदरी ने, जिसे खापरा ने दासी बना रखा था, विक्रम को पहचान कर खापरा के हटते ही चुपके से कहा, "स्वामिन ! आप यहा क्यो आये ? तुरत यहा से चले जाइए अन्यथा यह चोर आपको मार डालेगा।" राजा उसके वचनो की ओर ध्यान न दे कर खापरा के पीछे-पीछे गुफा-निरीक्षणार्थ चला गया। खापरा ने भोजन-व्यवस्था करने तथा पाल्हा (भाणेज) के लिए शैय्या बिछाने की रानी को आज्ञा दी। राजा को मालूम हो गया कि शैया कच्चे सूत की है, और उसके नीचे अथाह गहरा अधकूप है। फिर भी राजा कपट-निद्रा मे सो गया। उसकी रक्षा के लिए तो अग्नि वैताल उपस्थित ही था। खापरा ने जब पाल्हा को सही सलामत सोते हुए देखा तब उसके आश्चर्य की सीमा न रही। उसने रानी से कहा, "अवश्य ही तुमने भेद दे दिया है, क्योकि स्त्रियो के पेट मे गुप्त बात नही ठहरती।" इसके बाद उसने तिलकसुदरी की चोटी पकड कर तथा गले पर वाम चरण रख मारने को प्रस्तुत हो कर कहा, "अपने इष्ट को स्मरण कर ले। मै तुझे जीती नही छोडूँगा !" रानी की दशा शेर के पजे मे हरिणी और बाज के हस्तगत कबूतरी की भाँति हो गयी। भीम ने जैसे कीचक को दबोच लिया था, रानी थर-थर कापती हुई करुण स्वर मे दुखभजन महाराज विक्रम के गुणो की स्तुति करने लगी। राजा विक्रम तत्काल मूछ मरोडता हुआ उठ कर खापरा से बोला, "मामा ! कृपा कर अबला को मत मारो और तलवार म्यान मे रख लो।" जब बहुत समझाने-बुझाने पर भी खापरा न माना तब विक्रम ने यह सोच कर कि यह दुष्ट बिना मारे मानने वाला नही है, उसे ललकार कर कहा, "या तो इसे छोड दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।" खापरा बोला, "पाल्हू ! क्यो बेमौत मरते हो !" इतना कह कर उसने रानी को छोड दिया और कुछ देर वाक्युद्ध होने के बाद दोनो वीर परस्पर भिड गये। चिरकाल तक दोनो मे घमासान युद्ध होता रहा। दोनो क्रोध के आवेश मे नाना प्रकार के दाँव पेच करते हुए लड रहे थे। रक्त से पृथ्वी लाल हो गयी। पर खापरा को जब न मारा जा सका तब अग्नि वेताल ने विक्रम से रहस्य बतलाया, "जब तक गुफा के द्वार पर शिला है, तब तक यह अजेय है। द्वार खोल कर एक प्रहार मे ही इसका काम तमाम

कर दो।" लात के प्रहार से शिला को हटाने पर सूर्य का प्रकाश फैला और विक्रम ने खापरा को बाहर ला कर तलवार से शिरोच्छेद कर मार डाला। देव, दानव सबने मिल कर राजा विक्रम का इस कार्य के लिए अभिनंदन किया।

नगर के लोगों को बुला कर राजा विक्रम ने अपना-अपना धन पहचान कर ले लेने की आज्ञा दी, नौ सौ कन्याओं को मुक्त कर अपने-अपने घर भेजा। दुखभंजन राजा विक्रम का यश सर्वत्र व्याप्त हो गया। फिर राजा ने खापरा के मस्तक को गठरी में बांध, रत्नजड़ित स्वर्ण करंड में रख कर आगिया वेताल के हाथों पटरानी के यहां भेजा। उसने पटरानी को रत्न-करंड भेंट कर कहा, "विक्रम महाराज स्त्री-राज्य देख कर लौट आये हैं और यह आभरणों का करंड आपके शृंगार के लिए भेजा है।" पटरानी ने उत्सुकतावश जब उसे खुलवाया तब खापरा का मस्तक देख कर उसके होश-हवास उड़ गये और राहुग्रसित चंद्र की भांति मुंह काला पड़ गया।

फिर राजा विक्रम ने सिद्धवड़ जा कर अघोर पापी चोर कापालिक, ब्राह्मण, क्षपणक और योगी को मारा। उज्जैन में जा कर रूदा कलाल को मारा तथा गांगो मालिन के परिवार का संहार कर के उसके घर को लूट लिया। फिर खापरा की प्रेयसी पटरानी को, नाक-कान काट कर, मालव देश से निष्कासित कर दिया। इस प्रकार चोर-परिवार और उनके सहायकों की समाप्ति कर राजा ने अपने शुभचिंतक ब्राह्मण विजयचंद को बुला कर दान-सम्मान पूर्वक 'ज्योतिषीराज' पद से विभूषित किया। उसे दो आबाद गांव, और नगर में जमीन भी दी गयी। राजा ने चेल रानी को बुला कर सम्मानपूर्वक उसे पटरानी बनाया और अपने अर्द्ध सिंहासन पर बैठा कर उसके शील-गुण की प्रशंसा की।

इस कलिकाल में घोर पाप और धर्म का फल प्रत्यक्ष है। विक्रमादित्य और खापरा के इस चरित्र को श्रवण कर सज्ज पुरुषों को चोरी आदि दुर्व्यसनों को त्याग कर शील सत्व गुण धारण करना चाहिए। इस चरित्र को सुनने से चोर चकार का भय नष्ट होता है। सं० १५६३ के ज्येष्ठ शुक्ला में उपाध्याय श्री साधु हर्ष के शिष्य उपाध्याय राजशील ने चित्तौड़ में इस चरित्र का निर्माण किया। कवि ने इस कथा को २०२ चौपाइयों में राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध किया है।

उपाध्याय राजशील खरतरगच्छ के विद्वान साधु हर्ष के शिष्य थे। इनके द्वारा रचित 'अमरसेन वयरसेन चौपाई' (गाथा २६३ सं० १५९४), 'हरिबल चौपाई' (सं १५९९), 'उत्तराध्ययन ३६ गीत' (ग्रंथाग्रंथ ४१६), इन पद्य रचनाओं के अतिरिक्त 'सिंदूरप्रकर बाला-वबोध' नामक गद्य भाषा-टीका भी प्राप्त है।

—नाहटों की गवाड़, बीकानेर (राजस्थान)।

ओंकार ठाकुर

कहानी

ऊब

एडविना की आख खुल गयी। खिड़मानकी से आस का एक किनारा उसे नजर आया और लगा जैसे तारो की फीकी राशनी म कुछ अजीब शक्लें तैर रही है। मन के परदे पर चद सतरें उभर रही है ।

क्या बजा होगा इस वक्त ? शायद चार या साढे चार। तभी तो धुँधला-सा अँधेरा है। रात ही जैसी है यह सुबह। रिचड के बगल लेटी थी वह। बिस्तर पर लेटना अजीब सा लग रहा था उसे। पता नही क्यो ? पर कोई कारण तो था। एक भय-सा उसके मन मे समाया हुआ है। क्यो ? कौन दोषी हे इसके लिए ? रिचड ? शायद हा ! नही भी शायद। लेकिन भय तो है मन मे। निमूल ? निमूल भी क्यो कहे वह इसे ? भय के कई कारण उसने खोज रखे थे। इन्हे होठो पर लाते हुए उसे अच्छा नही लगता था।

ये छायाएँ जो उसका पीछा कर रही ह, पागल बना देगी उसे। गला घोट डालेगी। कैसे हो गया यह सब परिवतन ? कल तक तो उसकी जिदगी मे सिवा प्रेम के और कुछ नही था। उसके प्यार का अत अत ही कहा जाय, सुखद हुआ था। पर यकीन क्यो नही आता एडविना को ? उसने सब-कुछ तो पा लिया है। फिर ? फिर क्यो अशात है वह ? क्यो ?

हवा का एक झोका आया। बडी प्यारी लगती है यह हवा उसे। समदर की हवा। अपने साथ मन तक को उडा ले जाती है—अपने डैने-से फैला कर उडता रहता है, जब तक उसके पख थक नही जाते, टूट-टूट कर हवा मे बिखर नही जाते। फिर भी उडान जारी रहती है, मन की उडान।

कल से हलका टेंपरेचर है रिचर्ड को।

रिचड ने एकाएक करवट बदली। एक कराह सी निकली, लेकिन ज्यादा देर नही। फिर चुप हो गया बिलकुल।

अजीब मुसीबत है। क्या करे एडविना ? वैसे, चितित होने लायक टेंपरेचर नही है। हो सकता है, ज्यादा काम के कारण ही हो गया हो। पिछली चार रातो से सोया नही रिचर्ड।

पूरे सौ घंटे बाद उसने ड्रेस उतारी है। हाँ, सौ घंटे। एडविना को एक एक मिनट का हिसाब मालूम है।

और फिर बंबई का यह ऐरोड्रोम। रात दिन प्लेन आते-जाते है सिविलियन और सैनिक। ये बोइंग जेट—पास से गुजरते हैं तो बादलो की गडगडाहट सी सुनायी पडती है। धरती और मकान काप-से जाते है। बच्चे नीद मे चौक पडते है। गर्भवती स्त्रियाँ इन्हें कोसती है। बीमार तो इनके नाम से घबरा जाते है। और जब से एडविना ने पढा है कि आवाज से भी तेज उडने वाले 'सुपर-सॉनिक' बन रहे है, तब से वह जाने क्या-क्या सोचती रहती है। तरह-तरह के विचार आते हैं। दिल की धडकन कुछ और तेज हो जाती है। दिल बुरी तरह घबरा कर कहता है—यह खबर शायद सच नही है। झूठ है! झूठ है! सौ तरह की झूठी खबरें छापते हैं ये अखबार वाले। सारी न्यूज़ सेंसेशनल। भारत के अखबारो ने भी पश्चिम का तरीका अपना लिया है। सारी 'सेंसेशनल' खबरे पहले पृष्ठ पर छापते है—बडे-बडे अक्षरो मे।

एडविना का बस चले तो चले तो ।

एडविना खिडकी के पास झुक गयी है। कोलतार की सडक पर साबुन-सी बस फिसलती जा रही है। वक्त बेवक्त वह यहाँ झुक जाया करती है। यू ही, निरुद्देश्य। इस प्रकार लमहे गुजारने मे उसे अच्छा लगता है। कुछ क्षण के ही लिए सही, सूनापन तो कटता है। चाहती है वह कि उम्र भर ऐसे ही खडी रहे—अकेली, बिलकुल अकेली।

हर्ज क्या है? हर्ज कैसे होगा? डैम इट! और वह कुछ आगे नही सोचना चाहती। नही! नही! नहीं!! और कोई तीसरा नही! बिलकुल नही!

अच्छा है सामने कोई रेस्तराँ नही है। दूर एक होटल है। नही तो उसे यहाँ खडे रहना अच्छा नही लगता। लोग क्या सोचते? फिर भी थोडी देर झुके रहने मे कोई बुराई नही।

ऊंह!

देखूँ तो, क्या कर रहा है रिचर्ड! देखू? कर भी क्या रहा होगा? इतनी सख्त ड्यूटी करने के बाद कोई अफसर क्या मलाबार हिल से सूर्योदय देखने की बात सोचेगा? नीले जल के विस्तार को देखना चाहेगा? आराम भी तो चाहिए शरीर को। और फिर रिचर्ड को हलका टेंपरेचर भी तो है। आदमी कितना भी मेहनती हो, कुछ फर्क तो आ ही जाता है कडी ड्यूटी के बाद।

हो सकता है, रिचर्ड गहरी नीद मे न हो। शायद, इसका उल्टा ही सही हो। कौन जाने?

कमरे मे लौट कर देखा तो रिचर्ड 'कैप्सटन' होठो से लगाये था। एडविना ने पास जा कर उसकी आँखो मे आखें डाल दी, इतने पास कि उसकी गरम साँस से वह चौंक गयी। और होठो ने कहा—'डार्लिंग!'

फिर कुछ सम्हल गयी वह और बोली, 'अरे, तुम कब जागे?"

रिचर्ड कुछ कहे कि इससे पहले टेलीफोन की घंटी बज उठी।

धडकते दिल से एडविना ने रिसीवर उठा लिया।

फोन पर किसी ने कहा, "जरूरी काम है। प्लीज कॉल मिस्टर रिचर्ड।"

एडविना काप उठी। रिचड कमरे मे न होता तो वह कह देती—वे फोन पर नही आ सकते। आपको जो कहना है, कह दीजिए। मै उनसे कह दूगी।

यह भी कोई वक्त है फोन का ? सवेर-सवेरे ? और भी तो पायलेट है। उन्हे क्यो नही बुला लेते ?

पर, कोई चारा ही नही था।

लपक कर रिचड ने रिसीवर ले लिया। कैसी ताकत आ जाती है रिचर्ड म ! क्या इसे ही उत्तेजना कहते है ? घर मे बीबी पर क्या बीतती है, कभी सोचा है रिचड के साथियो ने, अफसरो ने ? उसे अफसर नाम से ही नफरत होने लगी है।

बहुत चाहा एडविना ने कि पायलेट की पत्नी होने के नाते वह प्लेन की घरघराहट से न तो भयभीत हो और न ऊबे। लेकिन ऐसा वह कर नही पायी। चाह कर भी नही। और जब रिचड 'हटर', 'नेट' या 'बोइग' का नाम उसे बताने लगता है तब एडविना को उबकाई-सी आने लगती है। कितने उत्साह से रिचड उसे जानकारी देता है कि ये कितनी ऊँचाई पर उडते है, उनकी 'स्पीड' कितनी होती है, और भी ढेर बाते। रिचड के दिमाग मे सिवा प्लेन के और कुछ नही। एडविना का दिमाग चकरा जाता है और रिचड देश विदेश के हवाई अड्डों की रोमाचक कहानियाँ सुनाता है। हागकाग मे 'बोइग' कितनी सावधानी से उतारा जाता है या 'टेक-आफ' मे कौन सी दिक्कते है। लगता है, रिचड का दिमाग खुद एक प्लेन है जिसमे सिर्फ तरह-तरह की आवाजे भरी है—निरथक शोर करने वाली।

"पतालीस मिनट मे मुझे प्लेन ले कर उड जाना है। तुम्हे भी नही बताऊँगा कहाँ जाना है। बताऊँगा भी कैसे ? अभी तो मै खुद भी नही जानता। भाग कर काफी तैयार करो और मेरे बैग मे सामान भर दो।" रिचड ने जल्दी मे एडविना से कहा।

कब लौटेगा रिचड ? शायद, दो दिन, चार दिन, हफ्ता या पद्रह दिन भी लग सकते है। कौन जाने ? जब भी कह कर गया है कि एक दिन मे लौट आऊँगा तब पूरा हफ्ता लगा दिया है उसने।

घर मे पियानो न होता तो क्या करती एडविना ? एक वही तो है दिल बहलाने का साधन। रेडियोग्राम से उसे सख्त नफरत है। पिटी धुनें, घिसा सगीत। कुछ भी नया नही।

कितना तीखा हो उठता है एडविना का अकेलापन कभी-कभी।

एडविना किचन मे आमलेट बना रही थी। कॉफी तो दो मिनट मे बना लेगी वह। डिकाक्शन से कॉफी बनाने मे बडी पटु है वह। और रिचर्ड कितनी तारीफ करता है उसकी बनायी कॉफी की।

"अरे डियर, मुझे एकदम भागना है। बस, काफी का एक प्याला दो।" क्लीन-शेव्ड रिचड ने किचन मे आ कर कहा।

"क्यो, आमलेट बनने मे क्या देर लगती है ? ,लो तैयार हो गया।" प्लेट मे आमलेट उठाते हुए उसने कहा।

"देखो, लेट हो जाऊँगा मैं।"

एडविना ने कॉफी प्याले मे भर दी। गर्म दूध और चीनी रिचर्ड के सामने रख दी।

"चिन।"

"यू आर टायर्ड रिच, डोंट बी अपसेट।"

एडविना ने गालो और होठो पर एक बार फिर अँगुलिया फेरी। यही तो अपने होठ रखे थे रिचर्ड ने। यही। बिलकुल यही। और रिचर्ड अब तक काकपिट मे बैठ गया होगा। शायद उड भी गया हो। अरजेंट कॉल था।

तस्वीरें तेज़ी से बदल रही है।

उसने पहले-पहल कब देखा था रिचर्ड को? तीन साल पहले? शायद, कुछ ज्यादा अरसा हो गया। इस हिसाब से भी चार साल काम करते हो गये रिचर्ड को एयर फोर्स मे?

एडविना ने रिचर्ड को कई बार देखा था। पार्टियो मे, जलसो मे या चर्च मे। फिर देखना मिलने मे बदल गया था। चर्च मे, जुहू तट पर, मेरीन ड्राइव मे, मलाबार मे। एडविना को समुद्र की सैर मे मजा आता था। दोनो दजनो बार एलिफेंटा गये थे।

भेल और नारियल वालो के पास अक्सर दीख पडते।

सब याद है एडविना को। बहुत दिनो बाद यह सब याद आ रहा था। बडी बातूनी थी एडविना। पर उसका बातूनीपन किसी को भी अखरता नही था, रिचर्ड को भी नही। जिन दिनो उसका रिचर्ड से परिचय हुआ था, वह ज्यादा बचपने की बातें करती थी। हर बात मे दस बार रिचर्ड का नाम लेती। 'रिचर्ड बस अब थक गयी मैं चलते-चलते भेल खायेंगे रिचर्ड नारियल का पानी भी पियेंगे रिचर्ड रिचर्ड तुम बहुत बुरे हो।' कभी-कभी जल्दी बोलने की कोशिश मे एडविना की जबान नही हिलती थी। और फिर वह बडे सहज ढंग से हंस देती थी। 'पेडेस्ट्रियन क्रासिंग' से एडविना चिढती थी और 'डोंट क्रास' को देख कर खूब झल्लाती थी। रिचर्ड उसकी किसी बात का विरोध नही करता था। उसे गुस्सा भी नही आता था। ज्यादा बात एडविना ही करती थी। चर्चगेट से फ्लोरा फाउंटेन और फिर इंडिया गेट तक वे पैदल जाते थे। फिर लौट कर रीगल के पास के स्टाप से बस पकडते थे। सब कुछ याद है एडविना को।

कौन सी फिल्म थी? 'कम सेप्टेंबर।' मैट्रो मे। रात के शो मे गये थे वे। 'सोल्ड आउट' का बोर्ड लगा था। ब्लैक मे टिकट खरीदे थे। तीन पचास के पूरे पाँच। इसकी वजह थी।

यह वजह भी याद है एडविना को। वह रिचर्ड से कुछ कहना चाहती थी। अँधेरे मे रिचर्ड की लंबी अँगुलियाँ उसके हाथ का स्पर्श कर रही थी। नही। शर्म नही लग रही थी एडविना को।

एडविना ने कहा था, "इस महीने ही?"

"हाँ।"

फिर काफी देर बाद एडविना ने कहा, "एक शर्त। प्रामिज। नो वरी अनलेस यू लीव एयर फोर्स। लीव इट देन।"

यह सुन कर हंसा था रिचर्ड।

फिर काफी देर तक कोई बातचीत नहीं हुई। अब रिचर्ड का हाथ एडविना के सुनहरे बालों में था।

"यू आर लवली, एडविना।"

बस।

उसी महीने शादी हो गयी थी। सब-कुछ याद है एडविना को। जाने कैसा लग रहा था। आ कर फिर लेट गयी पलंग पर। एकाएक 'सीरियस' हो गयी थी एडविना।

अपने पर गुस्सा आ रहा था उसे। क्या? क्यों? ऐसा क्यों महसूस हो रहा है इस बार? रिचर्ड तो कितनी दफा गया है उड़ानों पर। सभी को नाज है उस पर। अच्छा पायलेट भी है और अफसर भी। एकदम एक्सपर्ट है रिचर्ड। हो सकता है उसे हेडक्वार्टर में ही रुकना पड़े, कई दिनों तक। हफ्ते भी लग सकते हैं। कई बार ऐसा हुआ है।

एडविना गंभीर हो गयी। जाने कैसा-कैसा लगा। जैसे बरसों से वह नितांत अकेली है। सब-कुछ शून्य-सा है। एक अजीब वैकुअम सा महसूस करने लगी वह। क्या हो गयी है जिंदगी बोझिल?

कमरे की हर चीज कितनी खामोश थी। पियानो भी, रेडियोग्राम भी। हर चीज काटने-सी लगी उसे। सुबह की हवा से भी नफरत होने लगी उसे।

अपने अकेलेपन का जिक्र कभी नहीं किया था उसने। किससे करे? रिचर्ड से? वह तो उसे ही बेवकूफ कहेगा। उसे अफसोस होने लगा। अब क्या होता है? जाने क्या सोचेगा रिचर्ड? एडविना की वजह से ही तो।

पर अब क्या करे? अब चुप रहते नहीं बनेगा एडविना से। चुप नहीं रहेगी। कह देगी रिचर्ड से। विरोध नहीं करेगी। अब भी क्या बिगड़ा है?

कुछ देर वहीं पड़ी रही। फिर रेडियोग्राम पर रखा फोटो उठा लायी। शादी के दिन उतरवायी थी।

सब याद है एडविना को।

बिलकुल नहीं बदला रिचर्ड। वैसे ही काले बाल, हँसती हुई आखें। कुछ भी तो नहीं बदला।

हारी हुई नजर से फोटो देखती रही एडविना। फिर उसे पलँग पर छोड़ कर उठ खड़ी हुई। खिड़की के पास चली गयी। बाहर वही कोलतार की सड़क थी। डबल-डेकर बसें फिसलती जा रही थीं। लेकिन सड़क अब उतनी सुनसान नहीं थी। कितनी ही देर एडविना वहां खड़ी रही। कितनी देर, ठसाठस भरी बसें देखती रही, देखती रही।

—१११०, राइट टाउन,

जबलपुर।

प्रेम कपूर

पुराने की विरासत पर नये की खोज

●

'चौरंगी' के लेखक शंकर से एक भेंट

मेरे साथी के हाथ में एक चिट थी---'मिस्टर शंकर से मिलना है तो चलो।' सड़क पर चलते हुए उसने वह चिट मुझे पकड़ा दी। चौदह नंबर मिश्री कोट। साथी ने टलीफोन पर पूछा था, "मिश्री भवन तो जानते हो?" और याद आ गया था---एक बार वहाँ गया हूँ। खादी कमीशन का आफिस है। रास्ते में किसी ने बताया, "अरे, मिश्री भवन तो कई हो सकते हैं। सड़क का नाम या कम से कम बंबई का नंबर तो चाहिए ही।"

बड़ा अजीब सा प्रश्न था।

टैक्सी पर बैठ कर साथी ने कहा, "मिश्री भवन।"

टैक्सी चल पड़ी।

थोड़ा आगे चल कर मैंने यूं ही कह दिया, "पास मे कहीं मिश्री कोर्ट भी है?" टैक्सी मिश्री भवन, खादी कमीशन के आफिस से गुजरी और मिश्री कोर्ट के बाहर जा कर रुक गयी।

हम दोनों ऊपर आ रहे थे। लेकिन सशंकित दोनों ही थे। चौदह नंबर के आगे जो नाम लिखा था वह किसी आलूवाला जैसा नाम था। किसी तरह से विधि ही नहीं बैठती थी।

नौकर ने दरवाजा खोला, "शंकर? नहीं साब!"

"वे जो कलकत्ते से आये हैं।"

"बंगाली मोशाय मुखर्जी साहब हैं। पर वे हैं नहीं। आफिस में मिलेंगे। फिलिप्स के आफिस में। वहाँ जाइए।"

"कब आयेंगे?"

"नहीं जानता।" उसने अंग्रेजी लहजे में कहा।

निराश, सीढ़ियों से उतर कोर्ट के बाहर आये। फाटक के बाहर खड़े उलझ रहे थे कि सामने से झपटता एक व्यक्ति चला आ रहा था। औसत कद। ढँका-ढँका रंग। पैंट-कोट पहने। किसी तरह से भी लेखक मालूम नहीं पड़ता। शंका और बढ़ गयी है। पर आंखों के भाव जैसे साफ कह रहे हैं क्षमा कोरुन। देरी होये गैलो!

मित्र ने पहचान लिया है। परिचय हुआ है। ऊपर उसी फ्लैट मे आ कर बैठे है। बातें चल रही है—बँगला साहित्य पर, 'चौरगी' पर, आज के लेखन पर। सामने, जहाँ मै बैठा हूँ—बाहर बारजे के, सडक को लाघ कर ब्रेवन स्टेडियम का एक भाग दिखायी पड रहा है। नारियल के झुरमुटो के नीचे टैक का एक हिस्सा है जिसमे एक महिला तैराकी पोशाक पहने तैर रही है।

बैरा चाय दे गया है। आफिस से सीधे यहाँ आया हूँ। भूख जोर की लगी है। मै चाय की चुस्किया लेते हुए सुनता जा रहा हू। बीच-बीच मे कई सवाल मैंने भी पूछ लिये है। लेकिन जो-कुछ शकर ने बताया है वह सब शब्दो मे न हो कर चित्रो मे अधिक है। वे जितनी भी बाते करते है उससे छोटे-छोटे चित्र खडे होते चले जाते है और सारा दृश्य सामने आता जाता है। सुनने वाला उसमे अपने को खडा पाता है। याद आता है—लेखक ने 'चौरगी' मे ठीक इसी तरह की शैली का उपयोग किया है। मै उसे खुद प्रत्यक्ष जी रहा हू। वे नदी के दूसरी ओर हावडा मे रहते है। याद आता है—हावडा स्टेशन से बाहर आ कर कलकत्ता जाने के लिए नदी पर बने पुल से जाना पडता है। हावडा से बाहर निकल कर सारी जगह वैसी ही उजडी-उखडी और गदी दिखायी पडती है जैसी अमूमन स्टेशनो के आसपास होती है। जिस मुहल्ले मे शकर रहते है वह भी आधुनिक नही, बहुत पुराना है। "बचपन से वहा रहने के कारण जो लगाव पैदा हो गया है, उसे क्या छोडा जा सकता है? वे दादा लोग, वे पास पडोस के नामी लोग जिन्होने बदमाशी मे ही नाम ऊँचा किया है—उन सबको वहा रह कर मैने जाना है। वे मेरे जीवित पात्र है।"—वे बता रहे है।

फिलिप्स कपनी के एक बडे अफसर को हावडा की उस बस्ती मे बैठाल कर सोचिए जरा!

वे कहते जा रहे है, "मैंने अपने आसपास का बहुत-सा हिस्सा 'चौरगी' मे इस्तेमाल किया है। लोग अधिकाशत प्रेम-कहानियाँ लिखते है। उस जीवन का चित्रण करते है जो उन्होने जिया नही, जिसे वे जानते नही। वे कहा करें कि उनका चित्रण बहुत यथार्थ होता है पर क्या यह बात स्वीकार की जा सकती है? हमारी जिदगी मे आज रोमास या प्यार के लिए कितना समय है? इस भागदौड की जिंदगी मे एक व्यक्ति अपनी पत्नी को कितना समय दे पाता है? मुश्किल से पाँच-छ घटा सप्ताह मे। फिर उसके लिए इतना बडा भाग साहित्य मे हो? आज की समस्याएँ प्राय दूसरी तरह की हैं। हम यदि कुछ लिखना चाहते है तो क्यो न आज की अपने युग की समस्याओ पर विचार करें।"

"आप की रुचि?"—मेरा प्रश्न था।

"मैं जिस किसी भी शहर मे जाता हूँ तो मुझे यह जानने की इच्छा होती है कि वहाँ के लोग किस तरह रहते है, कैसे खाते और प्यार करते है, और कैसे उनकी मृत्यु होती है?"

"और शायद इसीलिए आप 'चौरगी' के बाद अपना नया उपन्यास अस्पताल पर लिख रहे है?"

"इस सबध मे मै अभी कुछ कहना नही चाहूगा। पर कर कुछ इसी तरह का रहा हूँ।

मै चाहता हूँ कि मेरे लेखन मे आज की जिंदगी और आज की समस्याएँ हो। 'चौरगी' को ही लें! उसमे मैने जो कुछ देने की कोशिश की है, वह प्रचलित धारा से अलग हट कर ही तो है!"

फिर उन्होने बगला साहित्य पर बाते करते हुए बताया कि उनके यहा लेखक की असफलता और सफलता का बहुत-कुछ श्रेय वहाँ के पाठको पर निर्भर करता है। एक लबे अरमे मे प्रबुद्ध पाठको की एक ऐसी जमात तैयार हो गयी है जिसमे हर अच्छी चीज अपना उचित मान बिना पाये रह ही नही सकती। यदि रचना सशक्त है तो उसकी चर्चा अवश्य होगी। इसलिए जीवित रहने के लिए वहा लेखक को यह प्रयास करना ही पडता है कि वह साहित्य मे नयी खोज करे और ऐसी स्थायी मूल्य की रचना दे जो उसके पाठको को प्रभावित कर सके।

साथ साथ वे उदाहरण दे कर समझाते जा रहे थे कि किस तरह कमजोर या पुराने कथ्य को ले कर लिखी गयी रचना पर पाठक कतई ध्यान नही दे सकते। वे इतने सचेत है कि उन्हे किसी जिहाद, पार्टी या मत के नाम पर बरगलाया नही जा सकता।

रचना अच्छी है या खराब—बस ये दो ही स्थितिया हो सकती है। बीच की कोई स्थिति हो ही नही सकती। लोग इस बात मे रुचि रखते है कि आपने जो तैयार माल दिया है वह क्या है, किन परिस्थितियो मे वह दिया गया है उससे उन्हे क्या सरोकार!

"लेखको की उम्र, उनके मान, उनके ओहदो से क्या उनकी रचना पर कोई प्रभाव पडता है?"—मेरे इस प्रश्न पर उन्होने मुझसे उदाहरण चाहा। मैने कहा, "अमुक रचना उस माननीय लेखक की है, उसकी अवस्था साठ से ऊपर है, वह !"

"समझा! समझा!"—वे हँसते हुए बोले, "जूते की दूकान पर जो एक जोडा चप्पल खरीदी जाती है, क्या उसके लिए कोई यह पूछता है कि वह किस उम्र के मोची की बनायी हुई है, बनाते समय वह बीमार था या उसकी लडकी मृत्यु-शय्या पर थी? क्या ठीक यही बात कहानी के लिए भी लागू नही होती?—प्रकाशित कहानी कैसी है, उसने कुछ दिया है या नही? बँगला साहित्य मे भी जब लोग प्रेम-कहानिया पढते-पढते ऊब गये थे तब एक व्यक्ति ने एक छोटा-सा पैंफलेट की तरह का एक यात्रा-विवरण तैयार किया और उसकी बडी प्रशसा हुई।"

मुझे याद है। मैंने अपनी एक दूसरी भेंट मे शकर से कहा था, "हमारे यहा अभी एक बडे सम्मानित लेखक ने यह बात खुले रूप मे कही है कि जो लेखक सम्मानित जीवन व्यतीत करते है, जो सीधी, 'रिस्पेक्टेबिल', साफ तरह से धुली-धुलायी और अगरबत्ती का धुआँ दे कर जिंदगी गुजारते है, वे अच्छे लेखक नही बन सकते। उनके लिए बात कठिन है। उनके अनुभव कम होते है।"

ध्यान रखिए। यह बात मैने एक ऐसी उम्र के लेखक से कही थी जो कठिनाई से बत्तीस तैंतीस के आसपास होगा। उसे उसकी पहली ही किताब पर काफी यश मिल चुका है और 'चौरगी' का उसके साहित्य मे विशेष स्थान है। वह जिस विदेशी फर्म मे है वहाँ उसके साथ उठने-बैठने वाले केवल भारतीय या लदन निवासी ही नही, यूरोपीय और अमरीकी लोग भी है। यानी पीने-खाने की कोई रोक शकर के लिए नही हो सकती। पर इस लबी मुलाकात मे उन्होने सिगरेट तक नही सुलगायी।

उन्होंने आज के लेखकीय जीवन के इस अहम पक्ष पर बात बगला के उस 'कल्लोल ग्रुप' से आरंभ की जो यह कहा करते थे कि लीक से हट कर चलना, असाधारण दिखना ही लेखक की विशेषता है। जरूरी है कि लेखक वेश्या के यहा जाय, गलत जिंदगी जिये और बिना पिये तो वह लिख ही नही सकता। पर उस ग्रुप को आगे विभूति बाबू ने आ कर रास्ता दिखाया। फिर वे बोले, "सवाल व्यक्तिगत जिंदगी और साहित्य के संबधो का है। मै अपने अनुभवो से कह सकता हूँ कि बिना एक कतरा शराब चखे मैने 'चौरंगी' की रचना की है। मै ऐसे शराबघरो को ही नही जानता बल्कि इतनी बडी शराब कपनी के मालिक को भी जानता हूँ जिन्होने कभी भी शराब नही पी और 'टी टोटलर' है। रचना करने और जीवन जीने मे कोई कार्यकारण संबध हो, मै ऐसा नही मानता। और हमारे सामने यदि उदाहरण न हो तब तो कोई बात कही भी जा सकती है, पर जब परपरा से हमे इसके उदाहरण मिलते आ रहे है तब यह स्वीकार करना कि लेखक का जीवन अव्यवस्थित हो तभी वह अनुभव प्राप्त कर सकता है, मेरी समझ से बेकार-सी बात ही है, जो केवल दिखावे की हो सकती है। और थोडी देर के लिए ऐसा मान भी लें तो हमारे सामने ऐसा कहने वालो ने दिया क्या है?—यह भी तो सामने आना चाहिए। उनकी कृतियाँ कौन कौन सी है और कितने महत्व की है?"

उन्होने आगे बताया, "मेरे भाई, लेखक किस तरह से अपने को असामाजिक और गैर जिम्मेदार बना सकता है, मेरी समझ मे नही आता। उसके सामने तो इनसे कही बडे-बडे महत्व के प्रश्न होते है—यदि वह आम जिंदगी से न कटे। उसके पैर जमीन पर हो तो असाधारण समस्याओ को उपस्थित करने से वह मुक्ति ही नही पा सकेगा। केवल कथ्य के लिए अनुभव प्राप्त करने के लिए यह तरीका सही नही है। मै आपको बताऊँ, जरा-सा अपने से बाहर आइए और देखिए कि आपके आस-पास चलते हुए लोग जो भाषा बोलते हैं वह कितनी सजीव है। वे जिस तरह से अपनी जिंदगी जी रहे है, उससे आपको जीवित कला मिलेगी।"

एक घटना का वर्णन करते हुए वे बोले, "एक बार मै एक गाव के स्टेशन पर उतरा। दूर दूर तक कुछ नही था। स्टेशन मास्टर ने मुझे अपने साथ खाना खाने का निमत्रण दिया। मैं कतराता रहा। पर अगली गाडी कुछ घटे बाद थी। लाचार हो उसके साथ उसके कमरे पर जाना पडा। उसकी पत्नी वहा नही थी। वह स्वय खाना बनाने के लिए दाल, तरकारी, अडे सब एक ही बर्तन मे आच पर चढा कर बोला, 'बस एक ही 'शटिंग' मे मेरा खाना बन जाता है।'

"सुनने वाले कान चाहिए, परखने वाली आँखे। जरूरी नही कि हर चीज भोग कर ही देखी जाय। दूसरे के अनुभवो को आत्मसात करने की क्षमता और उसे कला मे ढालने की योग्यता पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। आज की जिंदगी बदल रही है, तेजी से बदल रही है। लेकिन इस परिवर्तन को भी साधारण से साधारण व्यक्ति मे पकड पाने की इच्छा, उसके साथ कदम बढाने की कोशिश—बडी चीज है। पर क्या इस परिवर्तन के लिए हम विदेश से, पश्चिम से प्रभावित नही हुए हैं?

"गलत है। जब आप कोई चीज यूरोप मे खरीदते है और सीधे उसे भारत ले आते हैं तब वह चीज यहाँ उतनी नही टिकती जितनी कि यूरोप मे। कारण जानते है? आपने वहा

दूकानदार से यह नही बताया कि वह उस सेट या ट्राजिस्टर को 'ट्रापिकलाइज्ड' कर दे। हर चीज जो स्वेज नहर पार कर के आती है, वह माग करती है 'ट्रापिकलाइज्ड' हो जाने की। वह वहाँ की नही रहती, आप के यहाँ की हो जाती है। पश्चिम की अपनी समस्याएँ है। वहाँ लडके-लडकिया एक दूसरे से मिलने के बाद जानने-समझने के लिए 'वीक-एड' मनाने दो-चार हफ्ते कही दूर जा कर रह आते है। लौट कर कह देते है—'सारी', यह नही चलेगा—और एक दूसरे से मुक्त हो जाते है। अब आप अपने यहा ऐसा वातावरण बनाइए, तब इन समस्याओ पर कहानी लिखिए, उपन्यास रचिए। इसलिए बिना 'ट्रापिकलाइज्ड' किया हुआ 'सेट' यहाँ के लिए बेकार है।"

फिर मैंने 'भूखी पीढी' तथा उसके लेखको के सबध मे बात उठायी। उन्होने कहा, "अभी उनकी रचनाएँ ठोस रूप मे नही आयी हैं। वे कुछ दे, तभी कुछ कहा जा सकता है। समस्याएँ है—ऐसा तो नही कि उससे इनकार किया जा सके, पर मुझे बहुत भरोसा नही है।"

बीच-बीच मे वे हमारी समस्याओ के विषय मे—मकान की, खाने पीने की, अध्ययन की—पूछते रहे, आखिर बबई मे भी तो लोग पीडित है। वे कह रहे थे, "मकानो की परेशानी को ले कर भी तो बहुत अच्छी रचना हो सकती है।" फिर एकाएक उन्होने पूछा, "क्या आप के यहाँ कोई बडा पुस्तकालय भी है, जैसे हमारे यहा नेशनल लाइब्रेरी है—जहाँ मै अक्सर बैठ कर काम करता हूँ?"

मेरे पूछने पर उन्होने बताया, "नेशनल लाइब्रेरी मे मै रविवार या शनिवार को काम करने जाता हूँ। कोई मुझे देखता रहे तो मैं लिख नही पाता। लिखने के लिए एकात जरूरी है और वह वहाँ मिलता है। लाइब्रेरी मे एक छोटा-सा टी-स्टाल है जहा सभी को लाइन मे खडे हो कर चाय लेनी होती है। सात पैसे की एक चाय। वहाँ चाय लेने के लिए बिडला को भी लाइन मे खडे होना पडेगा। चाय ले कर हरी घास पर बैठ जाते है दो-चार क्षण आराम करने के लिए। कोई न कोई साहित्यिक बधु साथ आ जाते है। फिर कुछ बात होती है। विमल मित्र ('साहब बीबी गुलाम' के लेखक) तो अक्सर ही मिलते है।"

और फिर मैंने सत्यजित रे पर बाते की, बँगला साहित्य और सिनेमा की चर्चा की। वे बोले, "मैंने कहा न कि हमारे यहाँ पाठक बहुत शक्तिशाली है। कला मे उसका दखल चलता है। इसलिए नये आयाम की नयी रचना की खोज चलती रहती है। वही हाल सिनेमा का भी है। ठीक है, रे मोशाय अलग ढग के व्यक्ति है, पर उनके पैर जमीन पर है। वे अपना काम समझते है और उन्होने साहित्य का गहरा अध्ययन किया है।"

फिर उन्होने कहा, "मजा तो तब आये जब हम सब एक दूसरे को जानें-समझें। कभी इच्छा होती है कि मै अपने को खोजने के लिए पूरे भारत का भ्रमण करूँ और आज के उन सूत्रो का पता लगाऊँ जो हमे बाधे है। लोग जब किसी एक को देख कर अनायास ही बात का साधारणीकरण कर देते है, तब अच्छा नही लगता। जब भी कोई कहता है सब मराठा खराब है, तब मेरे सामने मेरे अग्रेजी के अध्यापक आ जाते है—जो मराठा थे। मैं कैसे सबकी राय मे अपनी राय शामिल कर सकता हूँ!"

"आप तो काफी घूमे है। सबसे अच्छी जगह आप को कौन-सी लगी ?"

"मेरी रुचि की तीन जगह हैं—आह ! रानीखेत का वह सौंदर्य ! कभी भी कलकत्ते से बाहर रहना पड़ा तो मैं वहा बसूगा। और हा, अगर कभी कोई कहे कि नेशनल रिसर्च लेबोरेट्री की तरह चरित्र-सुधार के लिए कोई जगह चुननी हो, तो वह लखनऊ होगी। जानते हो क्यो ? एक घटना है। किसी ने कहा था, तुम रात मे कभी स्टेशन पर अपना कंपार्टमेंट मत खोलना। लोग कितना ही दरवाजा पीटें, बस सोते रहना। वह लखनऊ स्टेशन था। एक आदमी मेरे डिब्बे का दरवाजा पीट रहा था। वह जिस तरह से बोल रहा था, बस हर बार मैं अपने को धिक्कारता, सुनता रहा। हार कर दरवाजा खोलना पड़ा। जानता था, वह आगन्तुक बहुत बिगड़ेगा। पर नहीं, मुझे खाना 'आफर' किया। मैं कटा का कटा रह गया। क्या लहजा था उसका ! और इलाहाबाद ..."

"क्यो ? वहा क्या है ?"

"वहा तो हर समझदार व्यक्ति का एक अलग का नाता है। एक ऐसा रिश्ता जो कहा नही जा सकता !"

वे चुप हो गये थे और उनकी आँखे बहुत-कुछ कह रही थी।

—२२६।३, जवाहर नगर,
गोरेगाव, बबई।

पत्रिका संबंधी घोषणा-पत्र

१	पत्रिका का नाम	माध्यम
२	प्रकाशन की अवधि	मासिक
३	मुद्रक तथा प्रकाशक का नाम	श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
४	संपादक का नाम	श्री बालकृष्ण राव
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
५	पूंजी का विनियोक्ता	हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद

मैं पूरी जानकारी और विश्वास से घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण सत्य है।

रामप्रताप त्रिपाठी, प्रकाशक तथा मुद्रक, द्वारा हस्ताक्षरित

साहित्य में बाह्य प्रभाव : भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा द्वारा गत नवंबर २६, २७ तथा २८, १९६४ को एक संगोष्ठी आयोजित की गयी जिसका विषय था—साहित्य में बाह्य प्रभाव भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में। विषय तो स्पष्ट ही है—भारतीय साहित्य पर विदेशी साहित्य का प्रभाव दिखाना तथा साहित्य पर (वह भारतीय ही क्यों हो ?) समाज, धर्म, दर्शन तथा राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव दिखाना। इसी आशय की एक सूचना भी वक्ताओं को पहले ही दी गयी थी।

गोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वानों की सूची एक अजीब मिश्रण प्रस्तुत कर रही थी। 'भारतीय साहित्य' तथा 'बाह्य' दोनों शब्दों को सार्थक बनाने के लिए ही शायद, हिंदी के विद्वानों के अलावा संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, तमिल, तेलुगु, मराठी, कन्नड और मलयालम के विद्वानों के साथ-साथ साहित्येतर विषयों से शिक्षा और दर्शनशास्त्र के विद्वानों को भी आमन्त्रित किया गया था। इनमें बहुतेरे किसी न किसी रूप में अध्यापन कार्य से संबद्ध थे। मेरा तो यही विचार है कि विचारकों और आलोचकों की जगह इसमें केवल साहित्यकारों को ही बुलाया जाता तो बहुत अच्छा रहता। आलोचक तो निर्मित साहित्य की ही विवेचना करता है। पर साहित्य की निर्मिति करने वाला साहित्यकार ही प्रभाव-ग्रहण की दृष्टि से अपने व्यक्तिगत अनुभवों और कठिनाइयों का वर्णन प्रस्तुत कर सकता है। खैर, लगभग ३० वक्ताओं में केवल दो कवि थे और दो कहानी-उपन्यासकार। कहना न होगा कि इन चारों के विचार अनुभव-आश्रित होने के कारण बहुत महत्वपूर्ण थे।

विषय पर विचार करने वाले विद्वानों ने मौलिक तत्व-चिंतन के आधार पर प्रभाव की नयी दिशाएँ दिखायीं। विषय के उपस्थापक अध्यक्ष श्री बालकृष्ण राव की दृष्टि में वे सभी प्रेरणाएँ बाह्य ही हैं। दर्शन, धर्म, राजनीति के अलावा यश-प्राप्ति, मुद्रणेच्छा, सरकार द्वारा आर्थिक सहायता आदि अन्य प्रेरणाएँ भी साहित्य-सर्जन के पीछे काम करती है। उद्देश्य-सिद्धि की ऐसी हर प्रेरणा बाह्य प्रभाव ही है। पर आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार फ्रायडवाद, मार्क्सवाद आदि कुछ विचारधाराएँ, जो सार्वदेशिक मान्यता प्राप्त कर चुकी है, न किसी जाति की

अपनी है और न किसी के लिए बाह्य ही। जो बाह्य प्रभाव साहित्य मे आत्मसात हो जाता है, वह भी बाह्य नहीं रह जाता।

इसी प्रकार प्रभाव ग्रहण करने की स्थिति के बारे मे भी विद्वानो के दो दल बन गये। एक दल प्रभाव को स्वस्थ, अनिवार्य स्वीकार करते हुए भी, प्रभावो पर सस्कृति या जन-जीवन की आवश्यकताओ के अकुश रखने की हिदायत दे रहा था। बहुमत भी इसी दल का था। दूसरे दल के जबदस्त नेता श्री विद्यानिवास मिश्र साहित्य को बद कमरा बनाने के विरुद्ध आवाज उठा कर, मुक्त कठ से प्रभाव ग्रहण करने की सलाह दे रहे थे। इन दोनो दलो की मोर्चाबदी का अकेला हथियार पेड की उपमा थी। किसी ने बेचारे को तूफान मे आदोलित किया, किसी ने उसे जड से उखाड फेका, और किसी ने हवा मे उल्टा लटकाया।

गोष्ठी के शीर्षक के अनुसार अपेक्षित यही था कि वक्ता प्रभाव की प्रक्रिया के दायरे मे ही न रह कर और आगे बढते और विभिन्न भारतीय साहित्यो मे बाह्य प्रभाव की स्थिति बता कर अत मे सारे भारतीय साहित्य को एक अन्वय-सूत्र मे रख कर बाह्य प्रभाव को परखते और भारतीयता की दृष्टि से बाह्य प्रभाव की अनिवार्यता या अवाछनीयता का भी निर्णय करते। इस दिशा मे विचार करने के लिए हमे एक ओर, अध्यक्ष महोदय के कथनानुसार, प्रभाव को व्यापक धरातल पर रख कर देखना चाहिए, और दूसरी ओर निदेशक डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के कथनानुसार समसामयिक साहित्यो, उनकी प्रवृत्तियो और भावी सभावनाओ के सदर्भ मे बाह्य प्रभाव का अध्ययन करना चाहिए।

कतिपय विद्वानो ने एक सीमित क्षेत्र मे विषय पर विचार किया। हिंदी मे या अन्य भाषाओ मे बाहर की भाषाओ से शब्दो के उधार की प्रक्रिया और नये शब्दो के निर्माण और मुहावरो पर स्पष्ट रूप से अन्य भाषाओ की प्रभाव की स्थिति पर प्रकाश डाला गया। इसी सदर्भ मे 'परिप्रेक्ष्य' शब्द की भी चादी चमकी। इस शब्द के अभारतीय 'परिप्रेक्ष्य' के बारे मे जोरो से चर्चा हुई। श्री 'अनिल' ने ठीक ही कहा था कि भाषा के स्तर पर उधार आदि प्रभाव बहिरग प्रभाव मात्र है, इससे घबराने की जरूरत नहीं। पर जहाँ किसी सस्कृति के तत्वो का दूसरी सस्कृति मे ग्रहण करना होता है, वहाँ वह अतरग प्रभाव है, जो साहित्य और सस्कृति की दिशा को भी मोड सकता है। हमे इसी का नियत्रण करना चाहिए।

'बाह्य' से विद्वानो ने जहाँ कई अर्थ निकाले, वहाँ उसकी अर्थ सीमा मे भी काफी मतभेद किया। एक ओर विद्वानो ने 'बाह्य' का अर्थ 'विदेशी' ग्रहण किया। इनके अनुसार वही प्रभाव ग्राह्य है, जो भारत की सास्कृतिक चेतना के विरुद्ध न हो। पर कुछ विद्वानो ने हिंदी पर सस्कृत या बँगला का तथा तेलुगु और तमिल पर सस्कृत का 'प्रभाव' दिखाया। इस सदर्भ मे यह स्मरणीय है कि इन्होने इस प्रभाव मे कही किसी चेतना-विरुद्ध 'बाह्य' विचारधारा का उल्लेख नही किया। यही बात स्पष्ट हो जाती है कि देश की भाषाओ का पारस्परिक प्रभाव बहिरग है और देश की सास्कृतिक एकता के कारण इसमे कोई अतरग प्रभाव तो होता नही जिसे सस्कृति विरुद्ध कहा जा सके। विदेशी प्रभाव अतरग-बहिरग दोनो हो सकता है, जिसमे अतरग पर ध्यान रखना आवश्यक है।

आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियो और उसमे बाह्य प्रभाव की स्थिति के सबध मे श्री बालकृष्ण राव ने और डॉ० चतुर्वेदी ने ही प्रमुख रूप से विचार किया। अन्य लोगो ने इस ओर कही सादर्भिक उल्लेख मात्र किया था। पर अस्तित्ववाद की चर्चा तो विद्वानो मे सक्रामक रूप मे फैल गयी और किसी वक्ता ने इसे छोडा ही नही। अत मे बहुमत भी इसी के विरुद्ध था। विद्वानो ने भारतीय सस्कृति की शाखा मे मेल न खाने वाला कह कर, इससे बचने का निश्चय किया।

अन्य भाषाभाषी विद्वान तो अपनी-अपनी भाषा के सदभ मे भारतीय साहित्य मे बाह्य प्रभाव का एक सतुलित विवेचन प्रस्तुत कर सकते थे। इनमे मराठी के उपन्यासकार श्री 'अनिल' ने तथा उर्दू के प्राध्यापक श्री एहतिशाम हुसेन ने तो प्राय प्रभाव के सैद्धातिक पक्ष पर ही विचार किया। तमिल के विद्वान डॉ० आरमुगम के लिए मानो आधुनिक साहित्य में कुछ रहा ही नही। वे दो हजार वष पूर्व के सघकाल के साहित्य से प्रमाण ले कर कह रहे थे कि उस समय का द्रविड आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन आर्यों की सस्कृति से बहुत प्रभावित हुआ था। अत मे तमिल साहित्य मे अग्रेजी साहित्य के प्रभाव से उपयास, आलोचना आदि काव्यधाराओ के विकास की जो बात बतायी वह सवविदित है और सारी भारतीय भाषाओ के लिए है। तेलुगु के विद्वान डा० गिडुगु वेकट सीतापति के बारे मे हम कोई शिकायत नही कर सकते। वे तो थे अस्सी वर्ष के नौजवान। तीनो दिन जाडे की रात मे देर तक सास्कृतिक कायक्रम का रस लेते बैठे रहने की उनकी क्षमता देख कर, म दग रह गया। साफ, स्वच्छ अग्रेजी मे लगभग नब्बे मिनट के बाद उन्होने अपना भाषण शायद यह सोच कर समाप्त किया कि हम लोग थक गये होगे।

सभी विद्वान सतुलित रूप मे अपने-अपने विचार व्यक्त कर रहे थे। इसलिए अधिक खडन-मडन की गुजाइश न रही। इसी कारण गोष्ठी मे कही ज्यादा गर्मी नही आयी। पर राष्ट्रवाद की चर्चा ने तो देव-बिहारी के समथको की तरह दो दल ही खडे कर दिये। डॉ० राम-स्वरूप चतुर्वेदी ने जब राष्ट्रीयता की दुहाई दी तब डॉ० विश्वनाथ नरवणे ने अपना पूरा भाषण राष्ट्रीयता की चर्चा मे ही लगा दिया। राष्ट्रीयता के विरुद्ध आपने भारत की तथाकथित सम-न्वयशीलता और सहिष्णुता का इतिहास पुष्ट प्रमाणो से विरोध किया और कहा कि राष्ट्रीयता उग्र राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लेती है और लोगो को सकीणमना बना देती है। डॉ० चतुर्वेदी ने इसका उत्तर दिया। अच्छा हुआ कि न और लोगो ने इस प्रसग को आगे बढाया, न ही अध्यक्ष ने डॉ० नरवणे को पुन बोलने का अवसर दिया, नही तो गोष्ठी का विषय बीच मे ही बदलना पड जाता।

डॉ० रामविलास शर्मा (अग्रेजी के प्राध्यापक) ने हिंदी के अध्यापको की हीनवृत्ति और उनके अशुद्ध अग्रेजी उच्चारण की हँसी उडायी। न जाने क्यो, इनके किस्सो के नेता अग्रेजी अध्यापक को देख कर ही हीनता महसूस करते हैं, पर न डाक्टर का देख कर, न वकील को और न ही अफसर को देख कर। आपने समाजवादी आलोचक के ढग से रूढि और प्रगतिशील चेतना के सघष की बात बतायी। वैसे उनके कहने के तात्पय से मै खुद ही सहमत हूँ। क्योकि जहा

दो सस्कृतिया की विरोधी विचारधाराओ के समन्वय की बात आती है, वहा आरभ म सघर्ष का आना भी स्वाभाविक ही है।

राष्ट्रीयता का आधार लेने का आग्रह कर रहे डॉ० चतुर्वेदी का भाषण अपनी विचार पद्धति मे और अभिव्यक्ति की शैली म पूणतया विदेशी (या अतर्राष्ट्रीय) ही था। आपने विचारा के क्षितिजीय और निम्नाभिमुख प्रसरण का उल्लेख कर, इन दोना दिशाओ के समन्वय की माँग की। मालूम नही यह समझने के लिए मुझ किस अग्रेजी किताब की शरण लेनी पडेगी। श्री 'आरिगपूडि' की यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमारे लेखक भारतीय हो तो भी हमारे आलोचक बहुत दूर तक विदेशी प्रभाव से युक्त है।

डॉ० आरमगम दिल्ली मे ही अपने भाषण का हिंदी मे अनुवाद करा कर आये थे। शायद उन्होने यह सोचा कि केंद्रीय हिंदी सस्थान मे जाना है तो हिंदी म ही भाषण (पढ) दे। पर यहा आ कर उनकी हिम्मत जवाब दे गयी तो तय हुआ कि वे तमिल मे भाषण दे दें और उसका तुरत हिंदी मे अनुवाद हो जाय। यही अच्छा रहता यदि वे अग्रेजी मे ही अपना भाषण दे देते। मुझे तो यही ताज्जुब होता है कि उत्तर भारत मे छ साल रहने के बावजूद वे आठ दस पते भी हिंदी मे न पढ सके। खैर, जहाँ अनुवाद का सिलसिला शुरू हुआ तो लोग इस ऐंद्रजालिक करिश्मे को देख कर लोटपोट हो रहे थे। भाषण के अत मे भी आपने शब्दो के उधार और अटपट अनुवाद से उत्पन्न होने वाले दजनो मजाक और चुटकुले सुनाये जिससे सभा हँसी से गूँज गयी। मैने लोगो को उनसे यह कहते सुना कि उनके ये चुटकुले ही बहुत मनोरजक थे।

कही तो यह लगा कि सस्थान और बाहर के विद्वानो के दो गुट बन गये है। सस्थान के विद्वान जहा 'बाह्य' शब्द का विस्तत अथ ले रहे थे, वहा बाहर के विद्वान इसका 'विदेशी' या 'भाषा-इतर' अथ ही लगा रहे थे। इसी कारण सस्थान के कुछ विद्वान साहित्य पर साहित्येतर विषयो के प्रभाव को ही अधिक महत्व दे रहे थे। एक विद्वान ने इस विभाजन को और अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ तक कह डाला कि हमे तुलसीदास के कवि होने मे सदेह हो सकता है, पर केशवदास के कवि होने मे नही। क्योकि तुलसीदास पर दशन का 'अत्यधिक प्रभाव है' (मानो कवि होना और भक्त होना कोई विरोधी तत्व हो !)। पर उनकी बात काटने का किसी को अवसर नही मिला, शायद समयाभाव के कारण। तीसरे दिन तक भाषणकर्ताओ की सख्या बढ जाने के कारण कुछ लोगो को कम ही समय मिला और भाषण भी सक्षिप्त एव सारगर्भित हुए। कुछ विद्वानो को अध्यक्ष को बार-बार समयाभाव का स्मरण कराना पडा। वैसे जो लोग मच पर अपनी सारी बातें न कह पाते थे, वे नीचे चाय के समय परिचितो को शेष बाते सुनाते दिखायी पडे।

गोष्ठी मे विद्वानो ने खूबी से विषय का निर्वाह किया। डॉ० चतुर्वेदी, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री नददुलारे वाजपेयी, श्री विद्यानिवास मिश्र, डॉ० जगदीश गुप्त, प्रो० एहतिशाम हुसेन, श्री 'आरिगपूडि' और श्री 'अनिल' ने प्रमुख रूप से बाह्य प्रभाव के सैद्धातिक पक्ष पर महत्वपूण विचार व्यक्त किये। इन सबके विचार साधारण रूप से विभिन्न मार्गों से आ कर अत मे एक पूव-निश्चित बिंदु तक पहुँच जाते थे। यही कारण है कि श्री 'आरिगपूडि' ने कहा कि अब यह विषय तार-तार हो गया है, इसमे और कुछ कहने की गुजाइश नही रही (यह कह कर भी

उन्होंने कुछ नयी चीज ही सुनायी थी।) पर इसके पहले डॉ० विश्वनाथ अय्यर ने 'मलयालम साहित्य पर राजनीतिक प्रभाव' पर बोलते हुए कहा था कि यह विषय इतना बड़ा मैदान है कि कोई पार ही नहीं पा सकता, इसके किसी कोने में ही कोई जितना चाहे उछले-कूदे और लंबी-लंबी दौड़े लगाये। इन दोनों कथनों में विरोध का आभास होते हुए भी कोई विरोध या मौलिक अंतर नहीं है। डॉ० अय्यर का क्षेत्र व्यावहारिक था और यह क्षेत्र बहुत ही विशाल है, इससे कोई इनकार नहीं है। पर श्री 'आरिगपूडि' का क्षेत्र सैद्धांतिक था, जहां सभी वक्ताओं की घूम फिर कर वही प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया, उसकी अनिवार्यता, अनुकरण की भर्त्सना, संस्कृति या जन-जीवन से संपर्क बनाये रखने और प्रभाव को प्रेरणा में बदलने की सलाह आदि-आदि समानांतर विचार-पक्षों में आ मिलते थे। पर व्यावहारिक पक्ष पर विचार करने वालों का, याने साहित्येतर प्रेरणाओं और दबावों का वर्णन और विवेचन तथा समसामयिक साहित्य की प्रवृत्तियों और प्रभाव-स्थितियों पर विचार करने वालों का क्षेत्र इनसे अधिक विस्तृत था, इसमें कोई संदेह नहीं। पर सभी वक्ताओं ने, भले ही वे मैदान के कोने में दौड़े लगा रहे हो या अपने राज-मार्ग में 'मार्च-पास्ट' कर रहे हों, बहुत ही सराहनीय ढंग से विषय को विविध कोणों से देखा और परखा। श्री हुसेन के मतानुसार इस संगोष्ठी ने पूरे अनुसंधान के लिए सामग्री इकट्ठी कर दी है।

गोष्ठी का विषय अच्छा था, विस्तृत था और उसकी कई दिशाएँ थी जिन पर विचार कर के सारे भारतीय साहित्य की धारा तथा उसमें बाह्य प्रभाव की स्थिति और सीमाएं निर्धारित की जा सकती थी। यदि अपेक्षित ढंग से बहुत न हो सका तो उसका एक कारण है—दिग्भ्रम। वक्ताओं की कई बातें मौलिक एवं महत्वपूर्ण थी। पर 'स्व' और 'स्वेतर' जातीयता और संस्कृति का आधार आदि कई बातें अंत तक जाते जाते द्वितीय, तृतीयावृत्त हो गयी।

निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि इस प्रकार की विचार-गोष्ठियां, जिनमें कई भाषाओं, प्रांतों, विषयों और क्षेत्रों के विद्वान मिल कर विचार करते हैं और अपने-अपने अनुभवों और आवश्यकताओं के आधार पर एक सर्वसम्मत साहित्य-व्यवस्था के निर्माण में प्रयत्नशील होते हैं, भारतीय साहित्य के लिए ही नहीं, राष्ट्रीय एकता के लिए भी अत्यंत लाभदायक होती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत गोष्ठी बहुत ही महत्वपूर्ण रही।

इलाहाबाद के साहित्यिक वातावरण में थोड़े दिन रहने के बाद मुझे आगरे का व्यस्त, नीरस जीवन घुटता सा लगता है। वहाँ काफी हाउस तक साहित्य की गंध से पूरित सा था। इसी कारण मेरे लिए ही नहीं, सारे आगरे के विद्वानों के लिए यह गोष्ठी अलस साहित्य-जीवन में एक नव स्फूर्ति-सी लायी। यह विद्वानों का ही मत है। शहर के सभी विद्वानों ने इसका स्वागत किया और इसमें सहर्ष भाग लिया। बहुतों की राय यह है कि विषय के महत्व और विचारों के प्रतिपादन की दृष्टि से यह गोष्ठी संस्थान के पिछले वर्षों की गोष्ठियों से अधिक सफल रही। आशा यही है कि इससे लोगों के विचारों को नयी दिशाएँ मिली होगी, बहुतों को नव-प्रेरणा मिली होगी और सभी को बौद्धिक लाभ हुआ होगा।

—वी० आर० जगन्नाथन,
केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।

सहवर्ती साहित्य

सु० रामचंद्र

कन्नड

स्वातंत्र्योत्तर कन्नड साहित्य की उपलब्धियाँ-संभावनाएँ

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय साहित्य की उपलब्धियो मे हमे नवनिर्माण की दिशा मे गोचर उत्कर्षों-अपकर्षों का सजीव चित्रण विशेष महत्वपूर्ण दिखायी देता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति से उल्लास कम, कोलाहल अधिक हुआ। जिन घातक विभीषिकाओ से हो कर बंधन मुक्त होना पडा था वह घाव अभी भरा नही, आशंकाएँ दूर न हुई और मानसिक संतुलन रहा नही। अलावा इसके, अनगल संकीर्ण मतवादो का अनियंत्रित प्रचार राष्ट्र के जीवन को जर्जर बनाता गया। अभाव, निराशा, अतृप्ति, आक्रोश आदि एक ओर तथा लोभ, दंभ, स्वार्थ आदि दूसरी ओर राष्ट्र को आतंकित करने लगे। फलत प्राप्ति मे भी तृप्ति न दिखायी दी, प्रीति मे नीति न रह गयी। सत्याग्रह स्वत्वाग्रह मे बदल गया। अहिंसा ओढने की खाल हो गयी। असहयोग मतभेद रखने वालो तक सीमित हो गया। क्रांतिगीत शांतिगान मे परिवर्तित हुआ। सुधार की योजनाएँ विशिष्ट समुदायो के परित्राण का साधन बन गयी। संविधान से आश्वस्त ऋद्धि सिद्धि के समान उपभोग का नारा तो बुलंद हुआ, उसके लिए आवश्यक बुद्धि-क्रिया पर जोर कम हो गया। 'गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनदास' की कहावत चरितार्थ होने लगी। पुराने जीवनादर्शों की दुहाई के साथ ही नये तंत्र-विज्ञान के सत्व को आत्मसात करने की तुरही भी बजने लगी। हाँ, राष्ट्र के जीवन की जड़िमा हिला दी गयी, नयी चेतना के बीजारोपण के लिए ट्रैक्टर चलने लगे।

औद्योगिक क्रांति का जो व्यापक प्रभाव पराधीन भारत पर पडा था, विज्ञान और दर्शन के सह-अस्तित्व सिद्धांत से उत्पन्न प्रतीतियो-भ्रांतियो का, उससे हजार गुना अधिक प्रभाव स्वाधीन देश पर पडा है। राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद मानसिक दासता से मुक्ति का आदोलन चल पडा। जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र मे सुसंगठित व्यवस्था की आवश्यकता के अनुरूप साहित्य के वैचारिक क्षेत्र मे भी नये परंतु मौलिक दृष्टिकोण अनिवार्य हो गये। पुनरुत्थान की प्रक्रिया एवं चिंतन-

प्रसूत निर्माण की तीव्र यान्त्रिक क्रिया जीवन तथा साहित्य मे परिलक्षित होने लगी। अतिशय प्रयोगप्रियता एव अबाध वैयक्तिक प्रतिक्रिया भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण प्रवृत्ति दिखायी पडी। कन्नड साहित्य भी इसका अपवाद नही है।

कन्नड काव्य की इस नवोदित शाखा मे आधुनिक काव्यधारा की स्वच्छदता से प्रभावित दूसरी पीढी के प्रतिभासपन्न कवि श्री विनायक एव श्री अडिग महत्वपूर्ण है। इस नयी धारा का प्रवतन श्री विनायक से ही माना जाता है। सन १९५० के बबई वाले कन्नड साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण मे आपने ही इस नवीन चिंतनपद्धति का विश्लेषण किया, काव्य मे इसके समावेश का शास्त्रीय समर्थन किया और इसकी शिल्पविधायिनी क्षमता को स्पष्ट करने हेतु निजी कविताएँ प्रस्तुत की। मानव के जागरणशील व्यक्तित्व मे अनजाने दबी पडी दुबलता का चित्रण, स्वप्न सिद्धात की व्याख्या हेतु 'दु स्वप्न' शीषक कविता मे इस प्रकार है

'ऐ वज्रसदृश्य व्यक्तित्व !
गाधारी दृष्टि से बच्चा चित्तद्रव्य
तेरे मुख्य प्राण मे सिहासनस्थ !

कैसा विचित्र ! कितना भयावह !

इस कविता मे 'गाधारी दृष्टि', 'चद्रमा', 'सिंहासन' आदि पौराणिक, वैदिक, वैज्ञानिक तथा लौकिक प्रसिद्ध प्रतीको के अतिरिक्त 'दुर्योधन की जाँघ', 'मोम की गुफा', 'चुहिया' आदि नये सकेतो मे कविता की चिंताधारा मे तीक्ष्णता भले ही आ जाय, पर कविता का मूल भाव खुलता नही। 'वैद्य विद्यालय', 'हृदय रोग से मरण' जैसी कविताओ मे 'राजयक्ष्मा', 'थ्राँसिस', 'स्प्लीन', 'विद्युत केंद्र', 'बिजली के पखे' आदि नये प्रतीक तो है, पर रचनाओ मे कलात्मक अन्विति का अभाव है। 'ऊणनाभ' सग्रह की कुछ कविताएँ अपेक्षाकृत निखरी हुई मिलती है। 'पणहीन पादप' कविता की ये पक्तियाँ देखिए

पणरहित शाखा उपशाखाओ पर मेरा प्राणपक्षी,
स्वेच्छया विहार कर रहा निर्भय हो निरपेक्षी।

पणहीन पादप कवि-जीवन किसी अनुभूति या वतमान सभ्यता की विफलता को इगित करता-सा है। 'सीता-भेजा', 'फूलो का मेला, 'आदश विश्वमानव' आदि कविताएँ इसी श्रेणी की है।

इन लघु रचनाओ की अपेक्षा श्री विनायक की लबी रचनाएँ इनकी प्रतिनिधि कविताएँ मानी जा सकती है। 'उगम', 'द्यावा-पृथिवी', 'कश्मीर' ऐसी कृतियाँ है। 'उगम' मे महाबलेश्वर के आसपास की प्रकृति ही आलबन है। यहाँ कृष्णा नदी का उत्स ही कवि की जिज्ञासा का आधार भी है, जीवन के उद्गम का प्रतीक भी है। कवि को इसके दशनमात्र से नये जन्म का आभास होता है। बहुविध प्राकृतिक रूप व्यापार, वहाँ के भग्नावशेष, स्वातत्र्यपूव की देश-दशा, आजकल की स्थिति से उत्पन्न नाना समस्याएँ कवि की स्मृति को उद्दीप्त करती है, चितन को चमत्कृत करती है और

'द्यावा पृथिवी' दो भागो मे विभक्त रचना है। पूर्वार्द्ध मे नभविहारी मेघो के निरीक्षण से स्फुरित विचारणा अंकित है और उत्तरार्द्ध मे वायुयान से गोचर धरती का मनोरम दृश्य-चित्रण है। प्रथम भाग म लौकिक अलौकिक सत्व नीरद म साकार हो उठ है। जगत के आधारभूत सत्व तथा जीवन के तत्व इन दोनो के मेल से धरा से उत्थित मेघ प्रतीकवत वर्णित है। जैसे

वर्णरंजित रह कर भी स्फटिक,
जड मानें भी तो चिन्मय,
मर्त्य हो कर भी अमर,
गतिशील पर शांतिमय,
आप अकेला, पर भी शताधिक,
लीलार्थ विकास का बोधरूप,

नीरद आप विचर रहा है।

नीरदमाला की रहस्यमयी सत्ता का अपूर्व आकर्षण इन पंक्तियो से स्पष्ट है। उत्तरार्द्ध 'इलागीत मे स्थानपरिवर्तन मे काल की अनंत गतिविधियो का संश्लिष्ट चित्रण सफल बन पडा है। पर दोनो भागो का कोई सहज संबंध-निर्वाह नही है।

'कश्मीर' मे 'उगम' की 'टेकनीक' का अनुसरण है। यहाँ का प्राकृतिक रूप-सौंदर्य ऐतिहासिक तथा सामयिक जीवन की पार्श्वभूमि बन कर सजीव हो उठा है, अभिव्यंजना भी सशक्त है। काव्य-माध्यम से कश्मीर की जटिलतर समस्या की ऐतिहासिक व्याख्या प्रभाव शाली है।

इस प्रकार श्री विनायक की शैली मे अतिशय प्रयोगप्रियता लक्षित है। चिंतन ही इनकी काव्य साधना की नीव है। शैलीगत वैविध्य मे कोई प्रतिक्रिया नही। यद्यपि ये इस धारा के प्रवर्तक माने जाते है तथापि 'नया काव्य, नये प्रश्न, नये समाधान' का कोई पथ निर्माण इनकी इच्छा नही है। इनकी कविताओ मे गतिशील जीवन की प्राणशक्ति का स्पंदन मात्र है। 'द्यावा पृथिवी' तथा 'कश्मीर' कन्नड मे सर्वथा नवीन प्रकृति-काव्य के नमूने है।

इस शाखा मे अन्यतम कवि श्री गोपालकृष्ण अडिग है। तीव्र वैयक्तिक प्रतिक्रिया तथा उत्कट आवेगपूर्ण भावदशा की समर्थ अभिव्यंजना इनकी निजी विशेषताएँ है। इनकी प्रतिभा प्रखर है, अभिव्यक्ति परिपुष्ट है, सूझ निराली है तथा काव्य को जीवित स्वर की लयताल मे बाँधने की तीव्र उत्कंठा है। इनका ध्येय भी अडिग है, महान है। इनकी आरंभिक रचनाओ मे 'मोहन मुरली' बडी प्रभविष्णु रही है। उसकी दो पंक्तिया देखिए

किस मोहन की मुरली ने आमंत्रित किया दूर किनारे ?
इस मिट्टी के नैनो को हर लिया किस वृंदावन ने ?

'परिचित पथ' मे वर्ण्य तथा वर्णन शैली मे सहसा परिवर्तन के संकेत मिल जाते है। व्यक्तिगत अनुभूति की तीक्ष्णता लोकानुभूति की तीव्रता मे बदलती दिखायी देती है। यहा प्राचीन जीवना दर्शों की सारहीनता, राजनीति का अतिचार, देश का सौभाग्य दुर्भाग्य, सामाजिक विषमताए आदि पर तीखा व्यग्य है साथ ही कवि की अनुकपा भी। दासता के दुर्दिन मे रही धडकनो के शात हो जाने पर कवि मे विलक्षण क्षोभ का सचार होने लगता है। जीवन मे व्याप्त विषमता से वह उद्विग्न है। 'विफल', 'मेरा अवतार', 'आज का अपना देश, 'गावी' आदि कविताओ मे इसके प्रमाण मिलते है। पर सर्वत्र व्यक्तिगत अरुचि से उत्पन्न प्रतिक्रिया स्पष्ट है।

परवर्ती सग्रह 'नगाडा' (चडमद्दले) मे नियमित छदयोजना की जगह भाव लय से अनुस्यूत पद विन्यास के अतिरिक्त वस्तु निरूपण मे नाटकीयता की मात्रा अधिक है। 'हिमगिरि की गुफा' 'गडबड बस्ती' इन दोनो कविताओ पर इलियट के 'वेस्ट लैड' का प्रभाव गोचर होता है। प्रतीक विधान तथा मेरुदडहीन व्यक्तित्व वाले पात्रो के योजना की दृष्टि से दोनो मे बडा साम्य है अधे को अधा सहारा वाले आज के जीवन के प्रति बडा आक्रोश है। 'युगादि, 'वदन', 'कुछ न कुछ किये जाओ भैया' जैसी कविताओ मे सामाजिक विकृतियो का व्याग्यात्मक चित्रण है, केवल सम स्याओ का सूक्ष्म विश्लेषण है, उनके समाधान का सकेत नही। बाद के सकलन 'भूमि गीत' मे कवि का अतर्विरोध कुछ सयत-सतुलित दिखायी देता है। जीवन मे प्रकृति मानव, आदर्श-यथार्थ कल्पना-अनुभूति आदि के बीच निहित द्वद्व का उपहासास्पद जीवन-दर्शन के रूप मे चित्रण हुआ है। 'भूत' तथा 'शरद्‌गीत' कविताओ मे इसी द्वद्व निरूपण द्वारा समस्या के समाधान का धूमिल सकेत भी है।

व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के रूप मे ही सही, कन्नड की नयी कविता श्री अडिग की साधना से सप्राण और वेगवती हो पायी है। प्रामाणिकता इनकी स्वरसाधना का मूल है। जीवन के सर्वोच्च आदर्श के यथार्थ-दर्शन की महती आकाक्षा है। पर अतिवैयक्तिकता अधिकतर कटुता का कारण बन गयी है। अपने ध्येय की पूर्ति हेतु इन्होने एक अनियतकालिक समीक्षात्मक पत्रिका 'साक्षी' निकाली है। इधर लोक-जीवन की निरीक्षण क्षमता अपेक्षाकृत तटस्थ होने लगी है। इससे रचना-प्रणाली मे लोक-विधायक काव्य गुणो का समावेश बढने लगा है। 'भूमि गीत' के बाद 'कूपमडूक' नाम की कविता मे वस्तु तथा शैलीगत सस्कार परिष्कृत मिलने है। जीवन के साथ अपना और परोक्षत मानव का सबध नये सिरे से कवि के परीक्षण का विषय बना है। जीवन की चरितार्थता का तात्विक निरूपण इसका आशय होने लगा है। काव्य को जीवन की कसौटी पर कसने और उसे जीवन की अर्थाभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का प्रयास अडिग जी का काव्यादर्श है। ये कई तरुण कवियो की स्फूर्ति के ध्रुव आधार हो गये है। काव्यानुभूति को लोकानुभूति के मेल मे लाने का इनका सत्प्रयास कन्नड की कविता के लिए उज्वल भविष्य का सूचक है।

स्वच्छदधारा की मनोरम अभिव्यक्ति के लिए सहृदयो का कठहार बने 'मैसूर मेला' के रचयिता श्री के० एस० नरसिंहस्वामी भी इस नयी शैली की ओर आकृष्ट हुए हैं। इधर के 'शिलालता', 'एक घर से दूसरे मे' सग्रहो मे इनकी काव्य-प्रज्ञा वस्तून्मुखी हुई है। नयी प्रतीक-योजना का सर्वाधिक आग्रह शैलीगत चमत्कार की सृष्टि मे सहायक अवश्य है, पर अर्थ-व्यजकता

का पोपक नही। 'उपेक्षित सतान' कविता मे सतही तौर पर आधुनिक जीवनगत विषमताओ का चित्रण इस प्रकार मिलता है

> यहाँ गहन दशनो के स्वणचरणो का अनुसरण ही सुलभ है,
> आज की एक डकार के लिए काफी नहीं गत वभवो की नित रटन,
>
> सृष्टिसागर मे वटपत्र पर तिरना असभव
> डूबने दो।
> खुले मुह मे चौदह भुवन नहीं, चादनी नहीं
> उतर कर देख लो।
> प्रार्थना अनुरोध पर महल का खभा न फूटा
> इसकी याचना से,
> गगा मे आँखें छिपा कुती ने बहाया जिसे था,
> वह सतान थी ही दूसरी।

'सुवण माध्यम' कविता मे जिदगी घसीटे ले चलने की बेबसी है, परिस्थिति के दबाव से पिसी मानवता का चित्रण है। जैसे

> मन किया तो नीचे उतर आये
> राम मदिर मे पासा खेला
> भरे प्याले खाली किये
> मौके के सुर मे सुर मिलाया।
> आपके साथ हम गाते आये
> घेरा बढा, आप लख न पाये,
> परिणाम, कई दिशाओ की व्यर्थ चर्चा
> सच ही अति से हम दूर, मिति से अनजान।

उक्त पक्तियो मे वस्तु निष्ठा का अभाव है। कवि की भावुकता चितन से समर्थित न होने से धुधला गयी है। कल्पनाकुशल, प्रतिभासपन्न कवि जीवन की गहराइयो मे पैठ कर कोई पते की बात सुनाने मे असमथ सा हो जाता है।

इनसे भिन्न काव्यशैली श्री बी० सी० रामचद्र शर्मा की है। 'लिबिडो' या सुप्त कामवासना की काव्यात्मक व्याख्या शर्मा जी की अपनी विशेषता है। 'गौरीशकर', 'सप्तप्राचीरी किला', 'क्षोभ', 'अग्निसमुद्र' आदि कविताओ मे फ्रायड का मनोविश्लेषण-शास्त्र काव्य की वेशभूषा से सुसज्जित है। काम के स्तर-भेद का ब्योरेवार निरूपण 'सप्तप्राचीरी किला' मे निस्सकोच भाव से किया गया है। चितन की गहनता, प्रवाहपूर्ण भाषाशैली, काव्य के उपकरणो की सशक्त विनियोजना इनकी रचनाओ मे गोचर है, पर काव्यगत प्रयोजन की साथकता नही के

बराबर है। 'गौरीशंकर' की इन पंक्तियों में किसी नये विचारोन्मेष का अनावृत चित्रण मात्र है

> पाताल की अतल गहराई से उठ रहा मैं
> शताधिक भीतियाँ, लक्ष-लक्ष आशंकाएँ,
> कोटि कोटि दुर्बलताएं, अगणित प्रश्न भी हैं साथ!
> हर कोई पहाड़ बन एक दूसरे से मिल
> अंत को कोई उत्तुंग गौरीशंकर बन गया!

इनकी वैचारिकता के मूल में 'लिबिडो' है जिसका चरमोत्कर्ष 'पाडुमाद्रि' कविता में मिलता है। इतना अवश्य कहा जायगा कि शर्मा जी का शिल्प विधान अनोखा है और इनकी लेखनी में बड़ी गति है।

इस वर्ग के सौम्य कवियों में श्री चन्नवीर कणवि का नाम उल्लेखनीय है। इनकी काव्य-साधना में गतिशील जीवन का सजीव चित्रण सतत विकासोन्मुख रहा है। स्वानुभूतिव्यंजकता, चित्रमयता इनकी शैली की विशेषताएँ हैं। इनका प्रकृति का रूप-चित्रण अद्वितीय है। 'मिट्टी का जलूस' शीर्षक कविता में इनका काव्य-कौशल द्रष्टव्य है। इनकी कृतियों में 'आकाशदीप', 'दीपधारी', 'भावजीवी' सुंदर संग्रह हैं। 'भावजीवी' काव्यमयी आत्मकथा है। इनकी रचनाओं में यथार्थ जीवन-दशाओं का वर्णन व्यंग्यात्मक चमत्कार से पूर्ण है। प्रयोग वैचित्र्य का कोई दुराग्रह नहीं है, पर प्रयोगशीलता की प्रवृत्ति सजग रहती है। इसी श्रेणी में जागरूक, प्रतिभासपन्न कवि के नाते श्री शिवरुद्रप्पा का नाम लिया जा सकता है। इनकी 'वेणी' शीर्षक कविता संयत तथा स्वस्थ प्रयोगशीलता का प्रमाण है। 'सध्यापथ' संग्रह की कई कविताओं में यही संयत प्रयोगशीलता मिलती है।

इस धारा में अन्य समर्थ कवि श्री गंगाधर चित्ताल माने जा सकते हैं। 'काल की पुकार', 'मनुकुल के गीत' इनके प्रकाशित संग्रह हैं। प्रकृति-सौंदर्य, प्रेम, राजनीतिक वातावरण आदि से ये काव्योपयोगी वस्तु ग्रहण करते हैं। दूसरे संग्रह में शैलीगत प्रौढ़ता अधिक है। इनकी अभि-व्यंजना में निश्चितता अधिक है, अनुभूति की सचाई है, चिंतन का परिपाक है तथा संश्लिष्ट चित्रण-विधान है। कहीं कहीं गद्यात्मकता भी गोचर होती है। जैसे

> छाया प्रकाश की सूक्ष्म शाखाएँ हिला जग
> किसी अनवरत व्यापार में लीन
> कोलाहल जगा रहा! कुतूहल अपने
> शतश नयन खोल रहा।

लय का सफल निर्वाह इनकी रचनाओं की विशेषता है।

इसी ढर्रे पर 'नयी राह के अन्वेषी' काव्य प्रणयन में उत्साह के साथ लगे हुए कवियों में सर्वश्री ए० के रामानुजन, चंद्रशेखर कंबार, सुमतीन्द्रनाडिग, पूर्णचंद्र तेजस्वी, पशुपति रेड्डी, चंद्रशेखर

पाटील, निसार अहमद, यू० आर० अनतमूर्ति, सीताराम अडिग, एस० आर० मोकाशी, पी० श्रीनिवासराव, राजगोपाल आदि के नाम प्रमुख है। इन कवियो मे सूक्ष्म चितन, समर्थ अभिव्यजन, व्यग्यात्मक निरूपण, नयी भाषा दृष्टि आदि गुण देखने को मिलते हैं। 'साक्षी' पत्रिका मे इनमे से कइयो की रचनाएँ प्रकाशित है। श्री रामानुजन की 'न्यूयाक की हवा' मे मार्मिक व्यग्यपूर्ण आत्मविश्लेषण सुदर है। श्री मोकाशी तथा श्री कबार इन दोना ने उत्तर कर्णाटक की बोलचाल का बडा ही प्रभावकारी विनियोग अपनी रचनाओ म किया है। श्री चद्रशेखर पाटील की 'रात' और 'भला होगा' बडी सफल रचनाएँ ह। कन्नड काव्य को इन कवियो से बडी आशाएँ हैं।

कन्नड मे स्व० कैलाशम द्वारा प्रवर्तित मौलिक नाटक-रचना-प्रयोगो की परपरा श्री श्रीरग के हाथो अधिक सजीव और समृद्ध होती आयी है। पुराण, इतिहास, राजनीति, धम, सामाजिक समस्याएँ, मानवीय मूल्य स्थापना आदि विविधि क्षेत्रो से वस्तु अपनाते हुए नयी नाट्य विधाओ के सफल प्रयोग होते आये है। फिर भी इधर अभिनेय एकाकियो का सृजन सर्वाधिक हुआ है। श्री कुवेपु के साहित्यिक सास्कृतिक नाटको, श्री ससं के एतिहासिक नाटको तथा श्री० एम० आर० श्री के राजनीति एव धम पर आधारित नाटको से परवर्ती नाटककारो को बडी स्फूर्ति मिली है। सवश्री कारत, श्रीरग, विनायक, सिपिलिगण्णा, टेगसे, वी० एम० इनामदार, एन्के कुलकर्णि, पवतवाणी, क्षीरसागर, कैवार राजाराव, सुकापुर, बेद्रे लक्ष्मण राव आदि ने छोटे बडे कई सफल सामाजिक नाटक लिखे ह। सवश्री कारत, आनदकद, प्रतिन तथा सिद्दय्या पुराणिक इनके गेय रूपक बडे लोकप्रिय है। कविवय श्री बेद्रे ने समथ व्यग्य विनोद द्वारा समग्र जीवनदशन को व्यक्त करने वाले कई नाटक लिखे है। सर्वश्री एच० के० रगनाथ, बीचि, शिवस्वामी आदि के रेडियो नाटक ऊँची कोटि की कलाकृतिया है। सवश्री ए० एन० मूर्तिराव, बेबार वेकटाचाय, ना० कस्तूरी आदि के हास्यप्रधान नाटक पहले से ही विख्यात रहे ह। उपयुक्त रगमच का अभाव यहा भी नाटको की प्रगति मे बाधक हुआ है। पर पहले की अपेक्षा स्थिति मे सतोषजनक सुधार हुआ है। कुछ ऐसे भी नाटक लेखक है जिन्ह साहित्यिक मान तो नही मिला है पर वे नाटक कपनियो के लिए लिखते जा रहे है। इनम सवश्री कदगल हनुमत राव, हुगार, नलवडी श्रीकठ शास्त्री, माड्र आदि जनसाधारण के श्रद्धा भाजन हे। इनकी सेवाओ का महत्व इसी से जाना जा सकता है कि सिनेमा की कृपा से कर्णाटक का रगमच लुप्तप्राय नही हुआ हे।

इस अवधि मे कथा साहित्य वस्तुवैविध्य एव बहुमुखी शिल्प-सपन्नता से समृद्ध है। जीवन की अनेकानेक परिस्थितियो का चित्रण तथा मानवीय मनोवृत्तियो की सूक्ष्मतम व्याख्या इधर के कथा साहित्य मे देखने को मिलती है। श्री कारत तो कन्नड के उपन्यास सम्राट है ही। निजी निरीक्षण के बल पर इन्होने यथाथ जीवन चित्र को कलात्मक सौदय से अर्थपूर्ण बनाया है। सलैनाड या तटवर्ती पश्चिमी कर्णाटक के जन जीवन का प्रभावी चित्रण इनकी अपनी सिद्धि है। 'गोडारण्य', 'फिसलती राह पर', 'गहराई-छिछलापन' आदि इधर के उपन्यासो मे कथा-सविधान, प्रतिनिधि चरित्र-निर्माण, सजीव सवाद, तटस्थ जीवन का व्यग्यात्मक चित्रण-कौशल आदि की दृष्टि से इनकी कला बडी ऊँची ठहरती है।

सामाजिक यथार्थ का सहज दिग्दर्शन श्री 'अनकृ' (अ० न० कृष्णराव) की अपनी देन है। राजनीतिक एवं सामाजिक खोखलापन आकर्षक कथानक तथा स्वाभाविक कथोपकथन द्वारा प्रस्तुत हुआ है। कला एवं जीवन का विसंवाद उपन्यास का आधार बनाया गया है। निष्ठुर वस्तुवादी पैनी जीवन-दृष्टि के कारण अबाध काम-विश्लेषण की प्रवृत्ति इनकी सफलता विफलता की कसौटी बनायी जाती है। रचनाएँ आदर्शोन्मुखी दृष्टि संपन्न न हो, ऐसी बात नहीं है।

श्री 'तरासु' (त० रा० सुब्बराव) के सामाजिक उपन्यास अधिक लोकप्रिय है। नारी की स्वतंत्रता, कुटुंबी जीवन-प्रथा का अंत, वेश्याजीवन, असहाय संतान की दारुण समस्या आदि इनके विषय हैं। दो-एक ऐतिहासिक उपन्यास भी यशस्वी प्रयोग-सिद्ध हुए है।

श्री बसवराज कट्टीमनि ने श्री 'अनकृ' की भांति विकृत राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन पर कटु प्रहार किये है। वर्ग-संघर्ष की मार्मिक कलापूर्ण व्याख्या इनकी रचनाओं में मिलती है। पाखंड का भंडाफोड इनकी रचनाओं का मूल लक्ष्य है। आवेश की अति के कारण कलाकार की तटस्थ जीवन-दृष्टि धूमिल हुई सी लगती है। पर जीवन में प्रचलित कुरीतियों की निर्भीक आलोचना ही रचनाओं की जनप्रियता का आधार भी है। तंत्रविषयक निपुणता भी प्रचुर परिमाण में है।

श्री निरंजन ने ऐतिहासिक, सामाजिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे है। सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं से पीड़ित मध्यवर्गीय जीवन का बड़ा मार्मिक चित्रण इनकी अपनी विशेषता है। यद्यपि साम्यवादी सिद्धांत के प्रति इनकी सक्रिय सहानुभूति रही है फिर भी कला की दृष्टि से संप्रदायवादी दुराग्रह इनकी कृतियों में नहीं मिलता।

आदर्श और यथार्थ का बडा प्रभावकारी समन्वय श्री कृष्णमूर्ति पुराणिक की शैली का प्राण है। श्री बी० एम० इनामदार की कृतियों में सभ्यताभिमानी शिक्षित स्त्री-पुरुषों की समस्याओं का बडा गंभीर विश्लेषण मिलता है। श्री मिर्जि अण्णाराव की कृतियों में ग्रामीण जीवन की सबलता-निर्बलता के कई पहलू वर्णित मिलते हैं। संवादों में ग्राम्य वातावरण की सादगी है, जिंदा-दिली है। श्री एम० वी० सीतारामय्या की शैली में प्रचलित सामाजिक समस्याओं की सरल व्याख्या देखते बनती है। श्री अश्वत्थ ने भावी भारत के भव्य निर्माण की समस्याओं पर आधारित एक उपन्यास लिखा है जिसका नूतन शिल्पविधान कन्नड उपन्यास की महत्वपूर्ण दिशा का संकेत करने वाला है। महिला लेखिकाओं में स्व० त्रिवेणी की रचनाएं पारिवारिक जीवन तथा नारी समस्याओं और नारी की संवेदनाओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के लिए स्मरणीय रहेंगी।

श्री विनायक ने उत्तर कर्णाटक के सामाजिक जीवन, विशेषकर दांपत्य जीवन, का बडा ही चित्ताकर्षक वर्णन अपने उपन्यास में किया है। श्री रसिकरंग ने कर्णाटक की समस्या पर आधारित एक सुंदर उपन्यास लिखा है। श्री रंग की उपन्यास शैली में नयी राजनीतिक तथा सामाजिक जटिलताओं का व्यंग्यात्मक विश्लेषण मिलता है। श्री मास्ति के ऐतिहासिक उपन्यास कन्नड की अनमोल निधि है। सर्वश्री तिप्पेरुद्रस्वामी, बी० पुट्टस्वामय्या आदि भी ऐति-हासिक उपन्यास के क्षेत्र में अच्छे प्रयोग कर रहे हैं। श्री के० वी० अय्यर की कला सूक्ष्म उद्भावना तथा कल्पना-प्रवणता के लिए अनुपम मानी गयी है।

स्व० देवुडु (देवुडु नरसिंह शास्त्री) अपने सामाजिक एतिहासिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों के कारण कन्नड में अमर हो गये हैं। सांस्कृतिक पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि से इनके पौराणिक उपन्यास बेजोड़ हैं।

इनके अतिरिक्त सर्वश्री बी० रामचन्द्रराव, हमल, व्यासराय बल्लाल, वरगिरि, हरिदास, रामचन्द्र कोट्टलगि, राववहादुर, लक्ष्मेश्वर आदि महानुभाव कन्नड उपन्यास को वस्तु, पात्र तथा शिल्प की दृष्टि से विशिष्ट गुणसंपन्न बनाने में लगे हैं। औपन्यासिक प्रयोग में कई लेखकों का समवेत प्रयास भी उल्लेखनीय है।

कहानी कला का आशातीत विकास इस कालखंड में लक्षित हुआ। कहानी की वस्तु, शैली आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विन्यास इस पीढ़ी में होने लगा है। लगभग सभी उपन्यासकार कहानी में भी अपनी कला ममज्ञता का उत्कृष्ट प्रमाण देते आये हैं। इनके अतिरिक्त सर्वश्री गोपाल कृष्णराव, कृष्णकुमार, एच० पी० जोशी, श्री स्वामी, वी० जी० भट्ट, राजरत्नम, चदुरंग, वरदराज हुइलगोल, बिंदुमाधव, कुलकर्णि, ईश्वरन, लक्ष्मणराव बेंद्रे, बी० एम० जोशी आदि ने व्यक्ति के विविध मनोभावों तथा जीवन की कई मार्मिक दशाओं का उद्घाटन अपनी सरस कथाओं में किया है। स्व० आनंद तथा स्व० र० बा० कुलकर्णि विशिष्ट शैली के कहानीकार हो गये हैं। श्री अश्वत्थ की कहानी-कला में देश के विभिन्न भागों के जीवन की विशेषताओं का संवेदनशील चित्रण लक्षित होता है। सुश्री शांता देवी, सरस्वती देवी, एच० वी० सावित्रम्मा, गीतादेवी, अनुपमा निरंजन प्रभृति रमणियों ने पारिवारिक जीवन तथा नारी के नवोदित आदर्शों को अपनी रचनाओं का वर्ण्य बनाया है। स्व० गौरम्मा, स्व० त्रिवेणी, स्व० जयलक्ष्मी, स्व० श्यामला देवी आदि की कहानियों में स्वस्थ कलात्मक सौंदर्य का अपूर्व आकर्षण अमर हो गया है। सर्वश्री वरगिरि, ऐरणि, मिर्जि अण्णाराव, पाटील पुट्टप्पा, क्षीरसागर, को० चन्नबसप्पा, नारगीभट्ट, यशवंत चित्ताल, रामचंद्र शर्मा, य० आर० अनंतमूर्ति, सदाशिव, श्रीकांत, जी० एस० गिरि, पी० लंकेशप्पा, टी० जी० राघव आदि की कहानी-कला उत्तरोत्तर निखार पर आती दिखायी देती है।

निबंध रचना की दृष्टि से कन्नड में इधर स्वतंत्र चिंतन, सूक्ष्म विचार-प्रतिपादन, तरल भाव-स्पंदन, प्रसादपूर्ण भाषाशैली आदि व्यक्तित्व के वैभवसूचक संकेत प्रचुर परिमाण में देखने को मिलते हैं। विषयी-प्रधान निबंधकारों में अनन्य शैली के आविष्कारक के रूप में श्री ए० एन० मूर्तिराव सुविख्यात हैं। सर्वश्री बेंद्रे, बी० सी० (बी० सीतारामय्या), रामानंद आदि की शैलियों में उनके व्यक्तित्व की पूरी छाप दिखायी देती है। सर्वश्री एन्के, एस० वी० सीतारामय्या, कृष्णमूर्ति पुराणिक, एच्चेस्के, एस० मंजनाथ, गदगकर, वाडप्पि, एन० प्रह्लादराव आदि की रचना-क्षमता सराहनीय है। सर्वश्री डीवीजी (डी० वी० गुंडप्पा), मास्ति, ए० आर० कृष्ण शास्त्री, बेंद्रे, कुवेंपु, गोकाक, पुतिन (पी० टी० नरसिंहाचार्य), तीनश्री (टी० एन० श्रीकंठय्या), अनकृ (अ० न० कृष्णराव), सिंपि लिंगण्णा प्रभृति विशिष्ट रचयिताओं की शैली में उनकी सूक्ष्म समीक्षात्मक व्याख्या सोने में सुगंध ला देती है। शिष्ट व्यंग्य-विनोद शैली के सिद्धहस्त लेखकों में सर्वश्री कारंत, श्रीरंग, कस्तूरी, गोरूर रामस्वामी अय्यंगार, बीची, शिवराम, नाडिगेर कृष्णराव, सुंकापुर, दाशरथी दीक्षित, ए० सेतुराम, लांगूलाचार्य आदि उल्लेखनीय हैं। स्व० द० बा०

कुलकर्णि के रेखाचित्र कन्नड को उनकी अपूर्व देन है। यात्रा विवरण, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण आदि भी प्रचुर परिमाण मे मिलने लगे हैं।

कन्नड साहित्य मे सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक समीक्षा के समुन्नत विकास मे इधर विशेष प्रगति हुई है। डा० के० कृष्णमूर्ति ने भारतीय काव्यशास्त्र का विपुल मात्रा मे प्रामाणिक अनुवाद कन्नड मे किया है। इससे परंपरागत समीक्षा-चिंतन का कन्नड मे स्वस्थ विकास संभव हो पाया है। श्री तीन श्री की 'भारतीय काव्य-मीमांसा' बडी महत्वपूर्ण मौलिक रचना है। पाश्चात्य चिंतन का सार श्री गोकाक ने कन्नड मे सुलभ बनाया है। कन्नड समीक्षा को अतिवाद से बचाते हुए स्वस्थ मौलिक तत्वचिंतन से सुशोभित करने की दिशा मे श्री बेंद्रे से पथप्रदर्शन मिल रहा है। इस दृष्टि से 'मन्वंतर' का पहला भाग देखा जा सकता है। सर्वश्री कुवेंपु, वीसी, एस० वी० रंगण्णा, तीन श्री, मालवाड, मुगळि प्रभृति विज्ञ समीक्षकों से व्यावहारिक समीक्षा के आदर्श विवेक का परिचय मिल जाता है। मनोहर ग्रंथमाला, धारवाड से प्रकाशित 'तय की गयी सडक' के तीनों खंडों मे भाई कुर्तकोटि ने कन्नड के साहित्यावलोकन मे बडी समीक्षात्मक तटस्थता और धृति का परिचय दिया है। श्री अडिग की 'साक्षी' तथा मनोहर ग्रंथमाला से प्रकाशित 'मन्वंतर' सुंदर समीक्षात्मक पत्रिकाएं है।

शोधकार्य तथा कृति-प्रकाशन की दिशा मे आदर्श मार्ग-दर्शक बने रहे राष्ट्रकवि गोविंद पै की स्मृति ही शेष रह गयी है। पर बडी लगन से प्रामाणिक ग्रंथों के परीक्षण तथा विद्वत्तापूर्ण प्रकाशन क्षेत्र मे श्री डी० एल० नरसिंहाचार्य तथा श्री आर० सी० हिरेमठ विख्यात है। मैसूर ओरिएण्टल लाइब्रेरी मे इस दिशा मे बराबर कार्य होता आया है और नयी कृतियां प्रकाश मे आती रहती है। कर्णाटक विश्वविद्यालय के कन्नड अनुसंधान विभाग के तत्वावधान मे वचनसाहित्य पर बडा महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। लगभग तीन हजार हस्तलिखित प्रतियों के परीक्षण के बाद उनमे से विशिष्ट कृतियों का वैज्ञानिक संपादन छः भागों मे करने का आयोजन है। पहला भाग शीघ्र ही प्रकाशित होने को है। विश्वविद्यालय धनायोग से इस योजना हेतु आर्थिक सहायता मिली है। इधर कन्नड मे जैन साहित्य को नवीनतम उपलब्धियों-सूचनाओं के प्रकाश मे प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने की योजना बनी है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये के तत्वावधान मे जैन दानवीरों की आर्थिक सहायता से लगभग बीस कृतियों के प्रकाशन का कार्यक्रम बनाया गया है। कन्नड साहित्य परिषद से भी इस दिशा मे नये कदम समय-समय पर उठाये जा रहे हैं। मैसूर मे श्री एल० बसवराजु तथा श्री वरदराजाराव ये दोनों विद्वान बडे परिश्रम से प्राचीन कृतियों के व्यवस्थित संपादन का सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

साहित्येतर वाङ्मय की संपदा भी समृद्ध हो रही है। अकेले श्री कारंत ने इस क्षेत्र मे एक व्यवस्थित संस्था से संपन्न होने योग्य कार्य पूरा कर दिया है। अनूदित साहित्य भी इधर अधिक बढने लगा है। शिक्षा, उद्योग, व्यवसाय आदि से संबद्ध रचनाओं का अभाव अभी दूर नहीं हो पाया है।

इस प्रकार हम देखते है कि कन्नड साहित्य की इधर की उपलब्धियाँ प्रत्येक शैली की दृष्टि से गर्व करने की वस्तु रही है और उसकी संभावनाएँ साहित्य के महान आदर्शों की अभिव्यक्ति

मे उत्साह बढ़ाने वाली और आशा जगाने वाली दिखायी देती है। हमे पूरा विश्वास है कि कन्नड की साधना भारतीयता एव विश्वमानव की नित नवीन आशा-आकांक्षा को साकार बनाने मे अनवरत जागरूक रहेगी।

—हिंदी विभाग, कर्णाटक कालेज, धारवाड।

अशोक वृक्ष

अंबिकातनय दत्त

अशोक वृक्ष की छाया मे
देखी मैने सशोक सीता
अशोक चक्र वाले झडे के नीचे
देख रहा हूँ, सशोक जनता

विशोक करने वाला दिव्य स्वर
अब भी है पहले-सा गर्जित
विशिष्ट श्रद्धा से युक्त हो
बद्धि सदा रहे नव नवीन

जो चाहता है मन से
वह पा ही लेता है
याचना है दुख
और अनचाहे जो

नही मिल पाता उसे
मिलने वाला सुख।

देने वाला वह परमेश्वर
सोच समझ कर ही देता है
बस, उसकी तृप्ति ही है काफी
मानव को चाहिए और क्या?
और नही चाहिए कुछ
यह कौन सुझाये।

अनुवादक बी० आर० नारायण,
१५ ए। २५, डब्ल्यू० आई० ए०,
करोल बाग, नयी दिल्ली।

श्रीनिवास

कहानी

मेलूर की लक्ष्मम्मा

"हमारे लडके का आज आरती-अक्षत है"—कोई मेरे पास ही बोला। मैं चौंक गया। मार्केट जाते हुए मैं किसी सोच में था। कोटे (किले) वेंकट रमण स्वामी के मदिर के परली तरफ रास्ते के किनारे देखा कि कौन है। वहाँ बस एक स्त्री ही थी, पास कोई और न था। उसने ही यह बात कही होगी। मुझे तुरत ऐसा लगा कि कोई पगली है, पर उसकी बात ठीक ही थी। यह सोच कर कि वह और कुछ कहेगी, मैंने अपनी चाल धीमी कर ली। उसने फिर कहा, "बहन, आप सब लोग आना, जरूर, जरूर, भूलना नही। सुहागिने आ कर आशीर्वाद दे जिससे उसका भला हो।"

बात पहले की तरह ठीक ही थी। तब तक चार-पाँच लोग उसके पास से गुजर चुके थे। पर उसे इस बात का पता न था। इससे मुझे लगा वह अधी होगी। मैं जरा पास आ कर खडा हो गया। वह कह रही थी, "बहन नरसम्मा क्यो हँसती हो, क्या यह सोच कर कि अधे लडके का क्या भला हो सकता है? बहन, अधा होने से क्या हुआ, है तो बच्चा ही! जब मैं इसे गोद मे लेती हूँ तो पडोसिन साकम्मा का घर वाला कहता है—यशोदा कृष्ण को गोद मे लिए बैठी है, और बहन तुम लोग कहती होगी—अधी यशोदा अधे कृष्ण को लिए बैठी है। जाने दो। अधा न कहो तो अधापन चला जायगा क्या? हमारा भाग्य। नेक सुहागिनो ने यदि आशीर्वाद दिया होता तो मेरी भी आँखें रहती। यदि मैंने भगवान की अच्छी तरह पूजा की होती तो हमारे बच्चे की भी आँखे होती। आप लोग आज आ कर बच्चे को शुभाशीष दो। आँखें भले ही न सही, पर जीवन तो सुखी हो।"

मैंने जैसा सोचा था वह अधी भी थी और पगली भी। इस समय कोई बात याद कर के अपने आप बातें करती जा रही थी। माँग मे सिंदूर था, देखने मे सुदर थी। हाथ मे कपडो की एक पोटली थी। देखने में वह भिखारिन पगली-सी न लगती थी, राह-भूली-सी लगती थी। मैंने वही खडे हो कर उसकी और भी बातें सुनी। दुबारा जब वह बोली तो उसका मन दूसरे विषय पर चला गया था।

"हाँ, मूर्ख लडकी को इतनी-सी बात समझ मे न आयी। कुछ दिन बहाना किया होता [illegible] था कि कल जैसा पता नही क्यो दृष्टि क्षीण होती जा रही

है और फिर यह कि एकदम दिखायी नही देता। बाद मे भले ही लोग अधी कह देते। विवाह तक किसी तरह स्वाग कर लेना था, बाद मे फेरे करने वाला कही छोड देता ? ठीक रखता तो खुशी की बात थी, नही तो कम-से-कम एक कोने मे बिठा कर दो कौर तो दे देता। इसी को भगवान की इच्छा समझना चाहिए। पर बेटी, एक बात और भी है कि पति को पहचानने के लिए एक निशानी रख लेनी चाहिए—मैने तुम्हारे पिता की भी एसी ही पहचान कर रखी थी। उनकी बायी बाँह पर चने के बराबर मस्सा है न। शुरू मे ही उसे छू कर निशानी बना ली थी। बुरे भले समय मे कोई बदमाश हमे खराब करने आये तो हमारा रक्षक कौन है। बेटा, भगवान हमे सुमति दें और हमारी बुद्धि हमारे वश मे रहे। उस दिन वह दुष्ट मेरे पास आया। मुह से तो बोला नही, बस उसने छुआ भर। उसने समझा था कि मैं उसे पति समझ बैठूगी। मैंने कहा, यदि तुम मेरे पति हो तो बात करो, नही तो हटो यहाँ से। उसने गला बैठा होने का पाखड रचा तब मैं समझ गयी और मैने उससे अपनी बाँह दिखाने को कहा। उसने बाँह दिखायी। देखा तो निशानी न थी। इस पर मै बोली—भगवान की सौगध तुम बुर विचार से आये हो, हटो यहाँ से। 'रहने भी दो' कहते हुए उसने मुझे पकड लिया, तो मैंने उसे एक तमाचा मारा "

बात तो सब ठीक थी, पर उसका आरती-अक्षत से कोई मेल न था। अधी लडकी के लिए एक सीख थी, अपने जीवन की एक घटना की याद थी। तभी वह अचानक—"हाय मार दिया न। हाय रे। मेरा बेटा गया। हाय।" चिल्लाने लगी और अपने चरित्र को कलकित करने की चेष्टा करने वाली बात को वही छोड, अपने बच्चे की मृत्यु की याद कर के विलाप करने लगी। मुझे उस पर बडी दया आयी। उसके लिए कुछ करने के विचार से मैंने पास जा कर, धीरे से पूछा, "आप कहा की है बहन ?"

"मेलूर"

"किसके घर की है, बहन ?"

उसने जवाब न दिया।

"बहन, क्या आपको मैं मेलूर भिजवा दूं ?"

"नही भैया, मैं काशी जा रही हूँ। मेरे घरवाले काशी गये हुए है, मैं भी वही जाने को निकली हूँ।"

"आप तो बेंगलूर मार्केट के पास खडी हैं। आपके साथ कोई नही क्या ?"

"कोई साथ नही भैया। मेरे पति काशी चले गये है। मैंने भी साथ जाना चाहा पर मेरे भाई ने मना कर दिया। उनसे पूछूँगी तो यही होगा—ऐसा सोच कर मैं निकल पडी हूँ।"

"आप तो यहा कई तरह की बातें कर रही हैं। यह सब क्या है ?"

"मुझे कभी कभी ऐसा ही हो जाता है, भैया। मैंने भी अच्छे दिन देखे हैं। बच्चे भी पैदा किये है। हाय रे। मेरी बेटी तू चली गयी। मेरी बच्ची, तू भी कुएँ मे जा गिरी।"

पहली तीन बातें तो समझ मे आने वाली थी पर आखिरी तीनो मे असगति थी। मैंने क्षण भर सोच कर कहा, "बहन हमारे घर चलो। बाद मे काशी चली जाना। आप चाहेगी तो किसी को साथ भेजने की कोशिश करूँगा। आपके भाई साहब को कहला भेजूगा।"

वह अपनी जगह से हिली नहीं। मुझे यह न सूझा कि क्या करूँ। इसलिए मैंने मेलूर से आने-जाने वाली बसों पर जा कर पूछताछ की। 'एक अंधी स्त्री है, ऊटपटांग बातें करती है। साथ में केवल एक कपड़ों की पोटली है।' —यह बताने पर कुछ लोगों ने उसे पहचान लिया। मेरे यह पूछने पर कि ऐसी स्त्री को यहाँ लाना क्या उचित था, उन लोगों ने कहा, "हमें क्या पता, आयी और बस में बैठ गयी। किराया मांगने पर बोली कि मेरे भाई से लो। उतरने को कहा तो उतरी नहीं। फिर हमने उसे यहाँ उतार दिया।" मैंने कहा, "उसके टिकट के पैसे मैं देता हूँ, पर एक पत्र मेलूर ले जाना होगा।"

सारा जरूरी इंतजाम कर के एक ताँगा ला कर मैं उस स्त्री से बोला, "बहन, मेरे घर चलो। वहीं भोजन बना लेना, और फिर बाद में काशी चली जाना।" वह बोली, "आप कौन हो भैया? बड़े भले-से दिखते हो। मेरे आड़े वक्त में भगवान की तरह आये हो।" और फिर कुछ देर बाद तांगे में बैठ कर मेरे घर चली तो आयी पर 'अंदर पाँव न रखूँगी' कह कर बाहर के चबूतरे पर बैठ गयी। मैं अपनी स्त्री से उसका ध्यान रखने के लिए कह कर अपने काम पर चला गया।

दोपहर को दफ्तर में बैठा था कि किसी के आने की सूचना मिली। मैंने बाहर आ कर पूछा, "आप मेलूर से आये हैं?" पर मेरे पूछने से पहले ही उन्होंने मेरा पत्र मिलने की बात कह दी। उन्होंने यह भी बताया कि वह स्त्री उनकी बहन है और सुबह उनके उठने से पहले ही वह घर से चल कर बस में बैठ यहाँ आ पहुँची। फिर बोले, "आप जैसे भले आदमी की नजर पड़ गयी, यही बड़ी बात हुई, नहीं तो पता नहीं उसे और मुझे कितनी दिक्कत उठानी पड़ती।"

मैंने कहा, "आपको मुझसे कुछ लाभ पहुँचा यह मेरे लिए संतोष की बात है। परन्तु मैंने कोई बड़ा काम नहीं किया। आपको मेरा पत्र कितने बजे मिला?" वे बोले, "जब आपका पत्र मिला उस समय दोपहर के खाने का समय हो गया था। मैं अपनी बहन की खोज में मारा मारा फिर रहा था। कहीं किसी कुएँ-बावड़ी में तो नहीं जा गिरी—यह सोच ही रहा था कि इतने में किसी ने आ कर उसके मोटर में जाने की बात कही तो मैंने कुछ आदमियों को उस तरफ भेजा। फिर यहाँ से जाने वाली बसों में से एक आदमी ने मुझे आपका पत्र दिया। वह पत्र पाते ही मैं भागा आया। मेरी बहन ठीक-ठाक तो है न?" मैंने कहा, "वैसे तो वे बिलकुल अच्छी तरह हैं पर उनका मस्तिष्क ठीक नहीं लगता।" वे बोले, "इसके अलावा और तो कुछ नहीं हुआ, यही खुशी की बात है। वह पागल है और अंधी भी। मोटर के सफर और शहर की इन सड़कों पर घूमने में उसे कुछ भी हो सकता था। इन मोटरों, ताँगों के बीच तो अच्छे-अच्छे आँखों वालों से भी नहीं चला जाता।" मैंने कहा, "जरा ठहरिए, अभी घर चलते हैं।" और फिर अफसर से कह मैं उन्हें साथ ले कर घर की ओर चल पड़ा। रास्ते में उन्होंने अपनी बहन की कहानी सुनायी

""मेलूर में सुब्बरामय्या नाम के ज्योतिषी थे। उनके लड़के का नाम नरसिंहय्या और लड़की का नाम लक्ष्मम्मा था। लक्ष्मम्मा जन्म से ही अंधी थी, पर वह रूपसी और समझदार थी। अंधी होने के कारण बाप ने उसे बड़े प्यार से पाला था। वे कुछ क्रोधी स्वभाव के थे। घर का कोई भी व्यक्ति ऐसा न था जो उनके क्रोध का भाजन न होता हो। पर यह लड़की जो भी करती, उसे

वे सह लेते थे। एक तरह से कहना चाहिए कि इससे पिता का लाभ ही हुआ। लक्ष्मम्मा कितनी तेज थी यह उसके बचपन की एक घटना से स्पष्ट हो जायगा। एक बार गुन्दराभय्या ने अपनी माता का श्राद्ध किया और उनकी बड़ी प्रशंसा करते हुए कहा, 'मेरी माँ बड़ी अच्छी थी पर मेरे पिता व्यर्थ उनको डाँटते थे।' इस पर लक्ष्मम्मा ने कहा, 'पिता जी यह तो ऐसे ही हुआ जैसे हम तो अम्मा को अच्छा बताते है, पर आप हमेशा डाँटते रहते है।' सुन कर पिता जी हैरान हुए और बोले, 'हमारी लक्ष्मम्मा मैत्रेयी का अवतार है। मुझे नीति सिखा रही है।।' इसी तरह लक्ष्मम्मा की बुद्धिमानी की बातें बहुत सारी है। जैसे उसके आँखे न थी पर अक्ल बहुत थी, वैसे ही उसका स्वभाव और चाल-चलन भी बहुत अच्छा था। लड़की के आठ साल की होने से पहले ही किसी तरह उसका विवाह कर देने का पिता जी ने बहुत प्रयत्न किया। सभी जान पहचान वाले यही पूछते कि इस अधी लड़की से कौन ब्याह करेगा। उनमें कुछ लोगो का यह भी उद्देश्य था कि कुछ ज्यादा धन मिले तो ब्याह ले। वस पिता जी पैसे वाले तो नही थे, पर पैतृक भूमि और निजी घर था। उन्होने स्वय भी ज्योतिष से कुछ कमाया था। बाकी लोगो के पास इतना भी न था। इसलिए उन लोगो की नजर इनके धन पर थी। पिता जी इसी उधेड़बुन मे थे कि घर-बार बेचे बिना लड़की का ब्याह हो जाय कि तभी उनका स्वर्गवास हो गया। अंत समय उन्होने मुझसे कहा था, 'बेटा, दुर्भाग्य से तुम्हारी बहन अंधी पैदा हुई। इसे तुम्हारे हाथो सौप कर जा रहा हूँ। किसी तरह इसे एक अच्छे ब्राह्मण के हाथो मे सौपना। तुम अच्छे लड़के हो। भगवान तुम्हारा भला करेगा।' नरसिंहय्या अपनी बहन से आठ साल बड़े थे। बड़ो ने, जिस साल पिता की मृत्यु हुई थी, उसी साल उसका ब्याह कर देने पर जोर दिया। मा की भी यही इच्छा थी। पिता की तरह देर करना तो असभव था। लड़की दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती जा रही थी। इन सब कारणो से उन्होने अपने गाव मे ही अपने एक रिश्तेदार से उसका विवाह करने का निश्चय किया। अभी उनकी अपनी शादी न हुई थी। उसे उन्होने अगले साल के लिए स्थगित कर दिया। अपनी जमीन का हिस्सा बेच कर दामाद के लिए कुछ अधिक ही खर्च कर के उन्होने बहन का रिश्ता कर दिया। लक्ष्मम्मा ने यही कहा, 'मेरे भाई साहब बड़े अच्छे हैं। बहन को पिता का अभाव महसूस नही होने देते।'

कुछ साल और बीते। लड़की बड़ी हुई। समधी लड़की को ले जाने मे टालमटोल करने लगे। बात साफ न कहने पर भी कुछ और धन ऐंठने की उनकी इच्छा थी। तब तक इनका भी ब्याह हो गया और खर्च बढ गये। समधी को धन देने के लिए जरूरी था कि कुछ और भूमि बेची जाय। लक्ष्मम्मा ने भाई से कहा, 'मुझे ससुराल भेजने के लिए आप क्यो अपना दिवाला निकाले दे रहे है! जो धन के बिना बहू को नही चाहते, उन्हे चाहे जितना भी धन क्यो न दिया जाय, वे क्या बहू को पसद करेंगे? आप चुप रहिए। मुझे बहन नही भाई समझ लीजिए। जिस घर मे मैं पैदा हुई, उसी मे रहूँगी।' नरसिंहय्या ने प्रसन्न हो कर यही कहा, 'तुम बहन हो तो सम्पत्ति मे आधा हिस्सा तुम्हारा भी तो है।' और फिर उन्होने जमीन बेची और समधी जितना चाहते थे उतना तो नही पर अपनी शक्ति भर धन दे कर बहन को ससुराल विदा किया।

लक्ष्मम्मा का पति आयु मे बहुत बड़ा न था। उसने विवाह अपने माता-पिता की इच्छा के कारण किया था, और उनकी इच्छा का कारण था—धन। पति सोचता था कि अंधी घर क्या

चला सकेगी। इसके अलावा, उसे एक पत्नीव्रत होने का हठ भी नही था अत उसने पत्नी को अनचाही की तरह उपेक्षा से रखा। एक ही गाँव मे रिश्ता हुआ था इसलिए लक्ष्मम्मा ने मायके से ससुराल और ससुराल से मायके, इसी तरह कर के जैसे-तैसे जिंदगी को ढकेला। तीन साल बाद एक लडका हुआ। वह भी अंधा था। इस पर ससुराल वालो ने उसे जो-जो सुनाया, भगवान न करे किसी को सुनने को मिले। इसके तीन साल बाद उसका पाँव फिर भारी हुआ। फिर कही अंधा बच्चा पैदा न हो—यह डर उसे बहुत सता रहा था। घर मे भी सब लोगो की चिंता का यही विषय था। दिन पूरे हुए और एक लडकी पैदा हुई, वह भी अंधी। सदा एक ही गलती करने वाले लडके को गाँव की पाठशाला के अध्यापक रूलर से अँगुलियो के गट्टो पर मारते है। लक्ष्मम्मा के अंधे लडके के बाद अंधी लडकी हुई तो घर वालो ने पुरानी बात दस गुना जोर दे कर सुनायी। लक्ष्मम्मा बेचारी क्या कर सकती थी, बच्चे तो पैदा हो चुके थे। अब चिंता थी कि इन बच्चो का क्या होगा। पर अब तक उसे ससुराल मे बातचीत करने की छूट मिल चुकी थी। कोई बुरा-भला कहता तो चट कहती, 'आखे नही है फिर भी मैने क्या कम किया है? लडका पैदा किया, लडकी पैदा की। मुझसे जो कुछ बन पडता है, करती हूँ। आखो वाली बहू सास ससुर को इसमे क्या ज्यादा कर के दे देती? मुझमे पति को किसी तरह का कष्ट नही। जिसके मुह मे जो आये, वह मुझसे वही कह डाले—यह नही हो सकता।' किसी तरह ज्यो-त्यो कर के उनका जीवन इसी प्रकार चलता रहा।

एक दिन श्राद्ध था। दादा नहा चुके थे कि तभी अंधा लडका इधर-उधर दौडता हुआ उनसे छू गया। सारा काम बिगड गया। बूढे को दुबारा नहाना पडा। यह देख कर लक्ष्मम्मा के पति ने लडके को खूब पीटा। चोट ज्यादा लगी। अंधा बच्चा हाय-हाय कह चिल्ला उठा। माँ छुडाने गयी। बाप ने उसे उसके हाथ नही आने दिया और सारे आगन मे घसीट-घसीट कर मारता रहा। खूब मार पडी और वह चिल्ला चिल्ला कर रोता रहा। इसके बाद उसे जोरो का बुखार चढा और दो-तीन दिन मे ही बेचारा चल बसा। लक्ष्मम्मा की स्थिति और भी बिगड गयी। तभी सास ने पति-पत्नी को अलग कर दिया। इधर लडकी बडी होने लगी। उसकी शादी करनी थी। यदि लडकी को एक दम अंधा बताया जाता तो लोग समझते कि यह खानदान पुश्त-दर-पुश्त अंधा ही रहेगा, फिर कौन बेचारी से शादी करता। इसलिए लक्ष्मम्मा ने लडकी को समझाया कि वह कुछ-कुछ दिखायी देने का बहाना करे। इस चेष्टा मे बेचारी दो बार दीवार और खभे से जा टकरायी। एक दो बार उसकी हँसी भी उडी। यह सब देख कर लक्ष्मम्मा बडी दुखी हुई। इसी प्रकार दिन कटते रहे। विवाह के बाद उसे कैसे रहना चाहिए इस विषय मे लक्ष्मम्मा लडकी को बराबर सीख देती रहती कि अंधी स्त्री को सबके समान गर्व नही करना चाहिए, उसे दीन भाव से रहना चाहिए, बडो की बात माननी चाहिए। स्त्री के लिए पति ईश्वर के समान है—अंधी के लिए तो वही साक्षात परमेश्वर है, अपने स्त्रीत्व की रक्षा के लिए पति का कोई चिह्न पहचान रखना चाहिए, आदि आदि। बच्ची ने बस एक-दो बार यही कहा कि यदि मैं मर जाऊँ तो अच्छा है।

एक दिन वह लडकी अपनी सहेलियो के साथ कुएँ पर गयी और वही डूब कर उसने प्राण

दे दिये। कहा नही जा सकता कि उसने जानबूझ कर प्राण दिये या अनजाने मे। लक्ष्मम्मा के दुख की सीमा न रही। इस बीच उसके पति को संसार से विरक्ति उत्पन्न हो गयी। उन्होने काशी जाने का अपना निश्चय पत्नी को बताया। बेचारी ने पति से बडी प्रार्थना की कि वे उसे छोड कर न जायें, पर उन्होने एक न सुनी और चले गये। लक्ष्मम्मा भाई के घर आ गयी। उस समय वह गर्भवती थी। चार महीने बाद असमय मे प्रसव हुआ। पर बच्चा बचा नही। उसके लिए जीवन का दुख असहनीय हो उठा और उसका मानसिक संतुलन नष्ट हो गया। अब वह कभी-कभी ऐसी बातें करती है मानो अब भी उसके बच्चे जीवित हो। दो-तीन दिन के बाद बुद्धि फिर ठीक हो जाती है। उसके पति को काशी गये तीन दिन हो गये हैं। उसने स्वयं काशी जाने का हठ किया तो माँ और भाई ने मना किया, पर उसने माना नही और अर्धज्ञान की अवस्था मे अपने आप बस मे बैठ कर बेंगलूर पहुँच गयी। बाद मे जो-कुछ हुआ मैं बतला ही चुका हूँ।"

नरसिंहय्या की कहानी सुनते-सुनते मैं उनके साथ घर पहुँचा। लक्ष्मम्मा तब स्नान कर के कुछ फलहार कर चुकी थी। हम पहुँचे तो उसने आवाज़ से भाई को पहचान लिया और कहा, "भैया, मुझे काशी ले चलो।" पास किसी के खडे रहने की बात बिना देखे बस अंधे ही जान सकते हैं। अपनी उसी सूक्ष्म दृष्टि से पहचान कर उसने पूछा, "और कौन साथ है?" मैं चट बोला, "मैं हूँ बहन, इस घर का आदमी।" शायद उसने समझ रखा था कि उसका पति आया है। मेरी बात सुन कर उसका मुँह उतर गया। नरसिंहय्या बोले, "गाँव चले चलें, लक्ष्मम्मा?" वह बोली, "हाँ, बच्चा का आरती अक्षत करना था। छोड कर आ गयी हूँ।" फिर वही भ्रम हवा मे बधे कपडे के समान उसका मन इधर-उधर डोल रहा था। इसके बाद नरसिंहय्या एक तांगे मे बिठा कर उसे गाँव ले गये।

इस घटना के घटित हुए तीन माह बीत चुके है। कभी कभी मेरा जी चाहता है कि लक्ष्मम्मा का कुछ हाल पता लगाऊँ, पर सोचता हूँ उससे क्या होगा, और यह सोच कर चुप रह जाता हूँ। कल बात चलने पर पत्नी बोली, "पता नही कितनी ऐसी कहानियाँ होती है। ले कर सोचने बैठो तो इनका न आदि है, न अंत।" मैंने कहा, "यह तो मानना ही पडेगा कि उसका जीवन बडा दुखी है।" वे बोली, "यह तो सब विधि के लेख हैं।" मैंने कहा, "कैसे है ये विधि के लेख! बिल्कुल हमारे रामू की लिखावट जैसे।" इस पर वे पूछने लगी, "रामू की लिखावट जैसे या शामू की?" शामू हमारा बडा लडका है। उसने अभी-अभी अक्षर लिखना सीखा है। रामू छोटा है, उसे अभी लिखना नही आता। पट्टी ले कर चुपचाप लकीरें खीचा करता है, यही उसका काम है। पट्टी भर जाती है तो सबको दिखाता फिरता है—यह मैंने लिखा है। इसीलिए मेरी पत्नी ने रामू या शामू का प्रश्न किया था। मैं बोला, "शामू नही रामू! लकीर खीचना ही उसका लेख है। कोई अक्षर बन जाय तो उसका दोष नही। विधना की लिखावट भी एसी ही ऊटपटाँग है—हजारो मे एक भी ठीक नही। उसमे कोई ठीक हो भी तो उसका दोष नही।"

—अनुवादक बी० आर० नारायण

विवेचना

ब्रजेश्वर वर्मा

गोपिका

सियारामशरण गुप्त की काव्य कृति। साहित्य सदन,
चिरगाँव, झाँसी। सवत २०२०। मूल्य ४००।

सियारामशरण गुप्त आधुनिक काल के उन कवियो मे से है जिनके कृतित्व पर आलोचको ने प्रसगवश ही कभी कभी चर्चा की है और वह चर्चा भी, आदर और सद्भावना से समन्वित होते हुए भी, प्राय औपचारिक मात्र रही है। इसका कारण कदाचित यह भी है कि सियारामशरण गुप्त को किसी विशेष 'युग', 'धारा', 'प्रवृत्ति', 'वाद' या 'दल' मे गिने जाने का अवसर नही मिला। लगभग अर्ध शताब्दी तक पद्य और गद्य की विविध विधाओ मे अनल्प रचना और अनुपेक्षणीय प्रयोग करने वाले इस निरीह कवि को सहृदय समालोचको ने प्राय 'उपेक्षित' कह कर ही उसे सहानुभूति देने मे कर्तव्य की इति-श्री समझ ली। अपना सपूर्ण कवि-जीवन ही जिसने उदासीनता के प्रति उदासीन तरह कर बिता दिया हो, उसकी वकालत करने मे मेरे जैसे अनधिकारी को सकोच होना स्वाभाविक है। 'गोपिका' के प्रस्तुत समीक्षक की पहली कठिनाई यही है।

'गोपिका' की कथावस्तु कृष्ण के आख्यान से सबद्ध है जिसे ले कर आज का कवि कोई नयी बात कह सकेगा, इसमे सदेह करना स्वाभाविक है। इतनी पुरानी भावभूमि की ओर ले जाने वाले कवि के कृतित्व मे किसी उपलब्धि की खोज करने का साहस अविश्वासपूर्ण कुतूहल तो जगा सकता है, परतु कदाचित वैसी उत्सुकता नही पैदा कर सकता जो समीक्ष्य की वस्तु के साथ स्वारस्य रखने वालो के मन मे, समीक्षा चाहे जैसी हो, थोडी-बहुत उत्तेजना भी उभार देती है।

'गोपिका' के विज्ञापन मे कहा गया है, '**इस कृति मे कवि का कवित्व, कहानीकार की कहानी, नाटककार का नाटक, निबधकार का निबध आदि साहित्य की जितनी भी विधाए हैं, वे सब अपने उत्कृष्ट रूप मे एक साथ मिलेंगी।**' आगे चल कर सभवत 'आदि' मे निहित उपन्यास की विधा भी जोड दी गयी है, रेखाचित्र, सस्मरण और रिपोर्ताज को भी शायद जोड ... विविध विधाओ का समाहार जिस कृति मे हो, उसके अदभुत होने मे तो कोई

संदेह नहीं हो सकता, पर इस प्रकार अदभुत होना साहित्यिक सफलता का साधक नहीं कहा जा सकता। 'गोपिका' के प्रकाशकों को उसके साहित्य-रूप के विषय में इतना संदेह है, यह वास्तव में आश्चर्य की बात है। यदि कवि ने ही उसकी पाडुलिपि गद्य-लेखन के रूप में, जैसी कि वह छापी गयी है, तैयार की हो, तब तो सचमुच एक ऐसा प्रश्न उठता है जिसका उत्तर पाना कठिन है। परंतु वास्तविकता यह है कि 'गोपिका' गद्य की रचना नहीं है—वृत्तगंध गद्य की भी नहीं, आप उसे गद्य की भाँति पढ ही नहीं सकते। उसकी शैली में गद्य की कल्पना कर के पढने पर उसका भाषा-प्रयोग और संपूर्ण वाक्य-विन्यास सदोष लगेगा। आदि से अंत तक असंदिग्ध लययुक्त मुक्त छंद में रचित इस कृति को गद्य के रूप में छापे जाने तथा उसके विषय में उपरोक्त विज्ञापन होने से पाठक के मन में व्यर्थ ही भ्रम पैदा हो जाता है। 'गोपिका' की समीक्षा में इससे भी एक अनावश्यक कठिनाई पैदा होती है।

रचना के आरंभ में 'कथा सूत्र' शीर्षक से कथा का जो परिचय या संक्षेप दिया गया है, वह भी न केवल आवश्यक नहीं जान पडता, बल्कि काव्य की प्रतीकात्मक और व्यंजनात्मक सरसता में बाधक भी लगता है।

'गोपिका' की विवेचना में उपरोक्त कठिनाइयों के प्रति सजग रहने के कारण यदि कहीं कहीं प्रतिरक्षा की भावना आ गयी हो तो वह स्वाभाविक ही है।

'गोपिका' का कथानक गोपाल कृष्ण की उस ललित कथा से संबद्ध है जिसकी विविधरूपता भारतीय संस्कृति और इतिहास के अनुसंधानकर्ता के लिए आज भी एक चुनौती बनी हुई है। किस जाति, और समाज के किस वर्ग से आरंभ हो कर लोकवार्ता के माध्यम से पनपते हुए, एक पुराण के बाद दूसरे में उत्तरोत्तर, किंतु विलक्षण घुमाव और मोडों के साथ बढते हुए, कवियों, गायकों, मूर्तिकारों और चित्रकारों की भावना को नाना प्रकार से प्रतिफलित करते हुए, वह कथा इतने अभिनव रूपों में अवतरित होती रही, यह निश्चय ही अनुसंधान का एक जटिल किंतु अत्यंत रोचक विषय है। साथ ही, कवि और कलाकार के लिए इसमें ऐसी प्रचुर और उर्वर संभावनाएँ हैं जिनका कभी अंत नहीं हो सकता। सियारामशरण गुप्त की 'गोपिका' ने भी इसी कथा में अपने नवीन, किंतु फिर भी चिर पुरातन, पथ की खोज की है, जिसके विषय में स्वयं कवि के शब्दों में कह सकते हैं

श्री सुरभि पथ से यह गली—नव नागरी—
किस अमल मधुवन को गयी?

'गोपिका' का 'श्री सुरभि पथ' वही है जिस पर सूरदास तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की गोपियाँ चल चुकी हैं, परंतु सियारामशरण मध्ययुगीन भक्त कवि नहीं हैं, उनकी 'गोपिका' में 'श्री सुरभि पथ' की खोज की प्रक्रिया वही नहीं है जो कृष्ण भक्त कवियों की थी, उसकी मौलिकता असंदिग्ध है।

कृष्ण-कथा का गायन मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त कवियों ने अधिकांशतः वैयक्तिक संदर्भ में किया था, यद्यपि उसमें सामाजिक उद्देश्य भी निहित था। सूरदास जैसे कवियों ने उस संदर्भ में जीवन के परम उद्देश्य की व्यंजना करते हुए उदात्त भूमिका भी प्रदान की थी, जिसके कारण कृष्ण-कथा हमारे जीवन के रागात्मक पक्ष के साथ-साथ चिंतन-पक्ष का भी स्पर्श कर सकी।

आधुनिक युग के आरंभ में सुधारवाद-पवित्रतावाद के उन्मेष में कुछ कवियों ने 'युग भावना' से प्रभावित हो कर कृष्ण-कथा के घटना-प्रसंगों और उससे भी अधिक उनकी व्याख्या में संशोधन करने के प्रयत्न किये। तत्कालीन समाज-सुधार और पुनरुत्थान की चेतना से अनुप्रेरित होने के कारण इन प्रयत्नों की सामयिक सराहना अवश्य हुई, परंतु कृष्ण-काव्य का यह नया रूप सौंदर्य-तत्व और काव्यानंद की उस भूमिका से विच्छिन्न हो गया जिसके कारण वह जन मानस की अंतर्वृत्तियों को अनायास ही रमाता रहा है। लोक-रक्षक कृष्ण और समाज-सेविका राधा के नवीन चरित्र-चित्रण में किसी गहरे जीवन-दर्शन के उद्घाटन का कोई प्रयत्न नहीं हो सका। कृष्ण-कथा की सुधारवादी व्याख्या एक कुतूहल बन कर रह गयी, मध्ययुगीन कृष्ण काव्य की स्थानापन्न बनने में वह नितांत असफल रही। यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' की अपेक्षा 'उद्धव-शतक' अधिक लोकप्रिय हुआ। वस्तुतः गोपीकृष्ण-राधाकृष्ण की ललित, मधुर कथा से संबंधित काव्य में कुछ ऐसी चमत्कारपूर्ण अनुरंजकता है कि उसके एक महत्वपूर्ण भावात्मक पक्ष के विरुद्ध सुधारवादी जेहाद के बावजूद उसकी लोकप्रियता एक अल्पकालीन व्यवधान के बाद फिर व्यापक हो गयी। परंतु किसी प्राचीन काव्य-वस्तु को जब तक युगानुरूप जीवन-दर्शन के मूल्यों से अनुप्राणित न किया जाय, तब तक उसमें वास्तविकता और प्रयोजनशीलता नहीं आ सकती। इसी कारण आधुनिक युग का परंपरागत ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य केवल मनोरंजन की वस्तु ही बना रहा।

छायावादी काव्यधारा के सूक्ष्मदर्शी कवियों ने कृष्ण-कथा की तथाकथित स्थूलता को अस्पृश्य समझ कर काव्य-वस्तु से बहुत-कुछ बहिष्कृत ही रखा। कृष्ण-कथा के संदर्भ में आधुनिक संवेदना जगाना निःसंदेह कठिन काम है। छायावादोत्तर काल के कुछ कवियों में इस दिशा में अन्वेषण की प्रवृत्ति अवश्य दिखायी दी, परंतु ये प्रयास पुरानी कथा पर नवीन विचारों के आरोपण के ही रूप में अधिकतर प्रकट हुए, यद्यपि सुधारवादी धारा के कवियों की अपेक्षा इनकी भाषा और शैली अंतःसंवेदना को स्पंदित करने में कहीं अधिक समर्थ है। इन कवियों में 'कनुप्रिया' के रचयिता धर्मवीर भारती को निःसंदेह स्तुत्य सफलता प्राप्त हुई। एक प्रयोगशील और 'नयी कविता' के घोषित कवि के लिए कृष्ण-कथा के ललित पक्ष को ले कर रचना करना एक साहसिक कार्य ही समझना चाहिए। परंतु 'कनुप्रिया' कृष्ण-काव्य और नव्य काव्य दोनों की दृष्टि से एक निश्चित उपलब्धि है। लगता है 'गोपिका' के पीछे 'कनुप्रिया' अवश्य झांक रही है। वस्तु के प्रति कवि की पहुँच की प्रक्रिया और काव्य-शैली में दोनों कृतियों की निकटता आकस्मिक या संयोगात नहीं जान पड़ती। परंतु यह निकटता होते हुए भी अनुभूति, विचारभूमि और अभिव्यंजना की दृष्टि से, लगता है, 'गोपिका' अधिक नवीन और उदात्त अर्जन कर सकी और

उसने कृष्ण काव्य को गहराई के साथ साथ ऊँचाई देने मे भी अधिक सफलता प्राप्त की। परतु यहा तुलनात्मक विवेचन अपेक्षित नही है।

'गोपिका' का कथानक द्वारकाप्रवासी कृष्ण के वियोग मे ब्रज की दुर्दशा से सबधित प्रसग का आधार ले कर रचा गया है। परतु इसका उद्देश्य न तो परम्परानुसार ब्रजवासियो और विशेष रूप से गोपियो के विरह का वर्णन है और न कृष्ण के प्रति अनन्य अनुरागमयी गोपियो की प्रेम भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन। वस्तुत 'गोपिका' कृष्ण भक्ति काव्य नही है। आधुनिक युग म कृष्ण भक्ति काव्य की रचना अनुकरण या अवशेष के अतिरिक्त और क्या हो सकती है ? परतु 'गोपिका' अनुकरण या अवशेष कदापि नही है। इसकी विशेषता यह है कि प्रेम भक्ति काव्य न होते हुए भी इसमे गोपिका का प्रेम उसी ऐंद्रियता, हार्दिकता और आध्यात्मिक व्यजना के साथ सुरक्षित है जो उच्च से उच्च कृष्ण-भक्ति कवि मे पाया जाता है।

'गोपिका' मे कृष्ण प्रिया गोपी अपने सपूर्ण सौदर्य और वैभव के साथ अवतरित हो सकी, इसी के कारण रचना के पर्यावरण मे आदि से अत तक कवित्व ओतप्रोत है। प्रेममयी, मायामयी गोपी के चित्रण म भी सियारामशरण ने पूर्ववर्ती कवियो के आगे जाने का यत्न किया है। राधा के स्थान पर इदुमती को कवि प्रतिनिधि गोपिका बनाता है। इसमे भी उसका विशेष अभिप्राय है। नयी भाषा और नयी शैली मे सूर का राधा-कृष्ण दर्शन सबधी भाव सियारामशरण की यह प्रतिनिधि गोपिका कैसे सुथरे ढग से व्यक्त करती है

प्रतिनिधि एक मै समस्त की, सकल की।
प्रतिनिधि क्षण वह मेरा चिरतन का।
फिर भी क्या देखा, कहूँ कैसे यह।
मानो कुछ देखा नहीं।
कैसे वे पलक सीम सब ढोले वह देखना
काल कैसे छीनेगा ? सुरक्षित है एक-एक क्षण वे यहाँ वहाँ

इदुमती को न केवल कृष्ण-दर्शन के क्षण की चिरतनता के प्रतिनिधित्व की प्रतीति होती है, बल्कि वह मुरली-नाद सुन कर स्वय अपनी असख्यकता और जन्म जन्मातर की अविभिन्नता की भी अनुभूति करती है। भागवत और सूरसागर की गोपियो की भाति इदुमती भी कृष्ण को प्राप्त करने के लिए गौरी की आराधना करती है। इस सदर्भ मे गोपिका की वृदवाटिका, उसमे इदु की सरसी और उसके इदीवर तथा रूप-यौवनमयी इदुमती की 'स्नान शुद्ध देह और भक्ति स्नात मन' से तपस्या का वर्णन जहाँ सौदर्य-बोध और शैली की दृष्टि से सर्वथा आधुनिक है, वहा इन्ही के माध्यम से कवि गोपी-प्रेम की चिर-पुरातन भावना को भी नया रूप-रग और परिवेश देने मे समर्थ हुआ है।

इस नवीन गोपी के साथ कृष्ण मिलन के चित्रण मे कवि अपनी लाक्षणिक भाषा को जिस व्यजना से चमत्कृत कर सका, उसके अभाव मे निश्चय ही इदुमती भी कृष्ण-काव्य की असख्य

गोपियों में खो जाती। परतु इसके विपरीत इदुमती, कृष्ण से उस सूचीभेद्य अधकार मे मिलती है जिसमे आगे-पीछे के सभी विभेद मिट जाते हैं। इदुमती जो कुछ देख पाती है, उसमे कवि की भावमयी कल्पना उस रहस्य का सस्पर्श पा लेती है जिसे कृष्ण-भक्त कवियो ने अवतारवादी कल्पना की स्थूलता मे पाया था। इदुमती देखती है

आहा, स्निग्ध सान्द्र यह अधकार---
इस उस ओर इसे छोड जैसे और सब है नि शेष।
एक दृष्टिपात मे ही क्या न जाने दीख गया---
मुग्ध हूँ, मै रीझी हूँ, न जाने क्यो।

श्याम---बस श्याम घन नील श्याम चारो ओर।
काली यह कुब्जा रात---श्याम ने छुआ ही इसे
और यह ऐसी विश्वमोहिनी अचानक ही हो उठी।

वस्तुत कुब्जा काली रात ही श्याम के स्पर्श से विश्वमोहिनी नही हो गयी, इदुमती को भी श्याम ने गोवर्धन गिरि की चूडा पर वृदवाटिका की पद्मिनी के रूप मे स्थापित किया।

वृदवाटिका की यह पद्मिनी गिरि-चूडा पर अकेली बैठी चोटी उजाले हुए है---उजाले हुए है, इस प्रतीक्षा मे कि श्याम जब किसी दूसरे शिखर पर से, तम तूम की गुहा मे से भद्रसखा को खोज कर लौटेंगे तब वह उन्हे अधकार मे प्रकाश दे सकेगी। वह निर्जाथिनी बन कर श्याम को खोजने के लिए नीचे उतरने का लोभ-सवरण रखती है। श्याम उसे यही रहने को कह गये है, वह यही रहेगी। वह वही इदु है जिसे विरह के कुछेक निमिष ही चित्त-शकाओ और अनिष्टो की व्यथा व्यग्रता मे युग-कल्प तुल्य लगते थे, आज वह युग-कल्पो को क्षुद्र क्षण मात्र बनाने चली है।

श्याम के बिना तो उसका नीचे का उतरना भी आरोहण ही है। आज समय को उसने अपने अधीन कर के निश्चल कर लिया है, अब समय उसे आकुल नही करेगा, वह कहती है

मै हूँ यह श्याम अब।
श्यामा बन श्यामसखा ही करेंगे मेरे लिए अभिसार।

वे दो-एक तारे मुझे ताक रहे---
गोपिका को ताक रहे---
ताक रहा एकटक विस्मित अनत काल।

कृष्ण-भक्त कवियो की 'गोपिका' को सियारामशरण ने उसकी युग-युग की परपरा से लेशमात्र भी विच्छिन्न न करते हुए उसे नयी भाषा, नयी अभिव्यक्ति दे कर नया आयास दिया। [illegible] उसका परिवेश भी नया है और सदर्भ यथार्थ है, परतु वह भी परपरा से सपृक्त।

इन्दुमती पर दुर्जय की दुर्दृष्टि है। रुक्मिणी को प्राप्त करने की अपनी असफल वासना से पीडित रुक्मी द्वारा तत्सबंधी अपमान से प्रताडित तथा कृष्ण के प्रति ईर्ष्या-भाव से आहत हो कर वह इन्दु को अपनाने के जिन दुरभिसंधिमय उत्पातो मे सलग्न होता है, उनसे सारा व्रज भयकर सकटो म पड गया है, भीषण रण-दुर्ग सा बन गया है। परन्तु गोपिका के कवि ने यहा 'कामायनी' के सारस्वत प्रदेश के विप्लव के समान कल्पना नही की, बल्कि यमुना के घने जगलो, खाई खडडो और भरको म गठित दस्युओ और नृशस लुटेरो के उत्पातो का वर्णन किया है, जिसमे कदाचित अधिक यथार्थता है। उसमे देश, काल और पात्र की विश्वसनीय वास्तविकता है। साथ ही, वह कृष्ण-कथा की परपरा से भी, एक ओर आमोद और उसके द्वारा गठित नवगोपो के रक्षा-दल (कवि ने इस शब्द का प्रयोग नही किया है) और दूसरी ओर क्रूर और उसके दस्यु दल के सघर्ष द्वारा इस प्रकार जोडने मे सफल हुआ है कि प्राचीन और नवीन के बीच भावना तनिक भी खडित नही होती, एक युग का दूसरे मे सक्रमण सहज और अनिवार्य सा लगता है। कवि की लेखनी जिस प्रकार कोमल, मधुर और रमणीय का चित्रण करने मे दक्ष है, उसी प्रकार वह भयानक, दुर्धर्ष, आतकपूर्ण और उद्वेगजनक का भी सफलता से बिंब-ग्रहण कराने मे सफल हुई है। यह अवश्य है कि सियारामशरण ओज और ऊष्मा के कवि नही है, प्रकृत्या ये भाव उनके अनुकूल नही पडते। परतु प्रस्तुत सदर्भ मे कवि को इनकी आवश्यकता भी नही हुई, क्योकि उसे तो कृष्ण के अभाव मे भय के ही सर्वजन व्यापी प्रभाव की व्यजना अभिप्रेत है। यह भय न केवल सपूर्ण व्रज को त्रस्त किये हुए है, वरन द्वारका मे भी व्याप्त है, क्योकि भय का निवारण द्वारका के राजराजेश्वर कृष्ण नही, गोकुल के गोपसखा श्याम ही कर सकते है। राजराजेश्वर कृष्ण की राज-कार्य मे घोर व्यस्तता, उनका अपार वैभव, उनकी प्रबल सेना, प्रहरी, सरक्षक आदि सभी भय को दूर नही करते, प्रत्युत एक नया आतक और भय का पर्यावरण पैदा करते है। सुरक्षा की मिथ्या प्रतीति से आत्म-सतोष की भावना पैदा होती है, जो परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, विलासप्रियता, क्षुद्र स्वार्थपरता और अधोगामी प्रवृत्तियो को जन्म देती है। यहा भी कवि बडे कौशल और कवित्व तथा परपरागत कथा की भावधारा को तनिक भी क्षति पहुँचाये बिना प्राचीन और नवीन को एकमेव कर देता है जिसमे नवीन प्रयोजनशीलता ही व्यजना के द्वारा मुखर रहती है।

आमोद के नेतृत्व मे व्रज के नवगोपो का सुरक्षा सगठन व्रजवासियो को किसी प्रकार का सतोष नही देता। उनकी भावनाओ का उद्वेलन इस सीमा तक पहुँच जाता है कि वे आत्मनिर्भरता के दभ मे कृष्ण की भी उपेक्षा और अवमानना करने से नही हिचकते। आमोद बार-बार इस प्रकार की अहकारपूर्ण दर्पोक्ति दुहराता है

कृष्ण क्या किसी से भी डरेंगे नहीं नवगोप।

मानता हूँ, भय के भी दिन थे हमारे कुछ।

किंतु अब है विश्वास आप निज बल का।
कृष्ण से भी जूझ सकते हैं हम।
राजराजेश्वर हैं, रहें द्वारका में।
हम भी ये छोटे नहीं।
पुरुष पुराण वे किसी विगत युग के
नित्य नये हम नवगोप हैं।

आमोद के स्वर में आधुनिक नवयुवक का तेज है और साथ ही सीमित, संकुचित दृष्टिकोण का दोष भी। कृष्ण-भक्ति के कृष्ण किसी का अहंकार नहीं सहते, भागवत की परंपरा का कवित्वमय विकास करते हुए कवियों ने अहंभाव के विनाश के नाना-रूप मनोहर चित्र दिये हैं। परंतु 'गोपिका' का कवि आज उस भावधारा का अवतरण नहीं कर सकता। इस प्रकार के अहंकार में जो आत्मविश्वास और स्वावलंबन की प्रवृत्ति निहित है, उसकी वह सराहना करता है, उसके कृष्ण भी उसका आदर करते हैं। तभी तो कुरुक्षेत्र जाते हुए कृष्ण मार्ग में जब ब्रज पहुँचते हैं और आमोद मानवश उनसे मिलने भी नहीं जाता, तब वे उस मान में निहित स्नेह को पहचानते हुए स्वयं उसके पास पहुँचते हैं। आमोद को ही वे अपना वह संदेश भी सौंपते हैं जिसमें 'गोपिका' के कवि का जीवन दर्शन निहित है।

भय और मोह का अन्योन्य संबंध है और मोह ही घनीभूत हो कर लोभ तथा संग्रह की मनोवृत्ति को जन्म देता है। भयाक्रांत होने के कारण ब्रज में शंका, संदेह, अविश्वास और निर्ममता के भाव फैल गये हैं, यहाँ तक कि मधुसखा पर भी संदेह किया जाने लगा है और वे वृंदवाटिका से निकाल दिये गये हैं। वृंदवाटिका में अब कोई अजनबी प्रवेश नहीं कर सकता, किसी यात्री को अतिथि-निकुंज में टिकने की अनुज्ञा नहीं मिलती, जब तक कि करणिक गण इससे संतुष्ट न हो जायें कि वह कौन है, कहाँ का है और उसका प्रयोजन क्या है। द्वारका से आये हुए एक यात्री के माध्यम से कवि ऐसे संशयालु व्यक्तियों के प्रश्नों पर टिप्पणी करता है। इसी यात्री को सरसी के गोघाट पर बैलों के पानी पीने के प्रश्न पर ब्रजवासियों का आपसी कलह और शैल के रक्तपात का दृश्य देख कर निर्जल उपवास का प्रायश्चित्त करना पड़ता है। वह मर्माहत हो कर कहता है

श्री गोपाल का क्या यही ब्रज है?
सलिल समीप है, तथापि प्यासे रहते हैं यहाँ गो-वत्स!

कृष्ण-विहीन ब्रज में सरल ग्रामीण के चिरपरिचित कलह का यथार्थ चित्र दे कर कवि इस प्रसंग में जो गहरी व्यंजना करता है, वह द्रष्टव्य है। यह यात्री द्वारका से यहाँ गोपियों के दर्शन करने आया था। पर यहाँ अब गोपी कहाँ? इंदुमती का परिचय उसे एक धनिका के रूप में मिलता है जो, सुना जाता है, घोर लुब्धा है, कहती है कि वह वाटिका मेरी है। उसे इतना मोह हो गया है कि वह वाटिका के लिए प्राण दे सकती है। निंबा नर्तकी के द्वारा भी इंदुमती के इस लोभ की साक्षी मिलती है। उसे वृंदवाटिका से इसलिए बहिष्कृत कर दिया गया था, कि वह

अपने 'माधव'—क्रूर के लिए सरसी के इंदीवर चुन कर ले जा रही थी। क्रूर के प्रति उसकी वैसी ही उदात्त आत्म-समर्पण की भावना थी, जैसी इंदुमती की कृष्ण के प्रति। उसने क्रूर का नही, क्रूर के शरीर मे 'माधव' का ही दर्शन कर उसे सर्वस्व दे डाला था। कहाँ उसकी कृष्ण की भावना मात्र के प्रति निष्कलुष निष्ठा और कहा इंदुमती का वह दंभ ! इतना ही नही, इंदु की लिप्सा इतनी बढ गयी है कि वह निंबा का छप्पर हडपना चाहती है। किसी अनजानी मेनका की इस पुत्री का घर लक्षधन नामक गोप ने अपनी गायो का गोठ बनवाने के लिए ढहवा दिया था। एक छप्पर मे अपने माधव रूपी क्रूर के प्रणय की याद सँजोये वह अनुभव करती थी कि वह अपनी पूर्वजा गोपिकाओ के सब समर्पणयुक्त प्रेम-पथ पर चल रही है। परतु इंदुमती उसका यह छप्पर भी खसोटना चाहती है, केवल इस कारण कि ब्रज से जाने के पूर्व कृष्ण ने अतिम बार उसे इसी छप्पर मे मिलन-सुख दिया था।

कवि ने बडे साहस और सकेतात्मक भाषा-चातुर्य से प्रतिनिधि गोपिका इंदुमती और निंबा नर्तकी को एक तराजू मे तौल कर यह प्रश्न व्यजित किया है कि कृष्ण के प्रति सर्वात्मभाव से समर्पित गोपिका और उसी भाव से कृष्णरूपी क्रूर के प्रति समर्पित निंबा मे क्या कोई तात्त्विक अंतर है ? भक्त कवियो ने कृष्ण को भक्त की भावना का ही तो प्रतिरूप माना था ! क्रूर कुछ हो, निंबा के लिए तो वह माधव ही है। बडे साहस के साथ, परपरावादी भक्तो की तिलमिलाहट की परवाह न करते हुए वह निंबा से उसके कृष्णरूपी आराध्य क्रूर के सदर्भ मे कहलाता है

> औरो का अतीत वह मेरा वर्तमान हुआ।
> श्याम ब्रज मे ही अनुभूत हुए—
> मुझ सी महा मूढा को मिला था सत्य।
> सत्य नहीं वह जो अतीत मे ही रम जाय—
> वर्तमान तक जो न आ सके।

कृष्ण और गोपिका देश कालातीत है, प्रत्येक नर नारी मे उनकी अवतारणा है। परतु निंबा का यह सौभाग्य क्या नयी धनिका गोपिया भी पा सकेगी ? वृंदवाटिका अब वहा नही है जहा पहले थी, वह तो अब इंदुवाटिका है। भद्रसखा अनुभव करते हैं कि वस्तुत वृंदवाटिका निंबा के निकट है, निंबा की भाव मात्र के प्रति निर्लोभ, निष्काम, अटल और यश-कुयश के प्रति उदासीन प्रवृत्ति को देख कर उन्हे अनुभूति होती है कि हरि को तो जन-जन मे अवतरित होते पाया जा सकता है, तभी तो मनुष्य की पीढी प्रति पीढी नयी रहती है।

परतु जन-जन मे कृष्ण के अवतार लेने का भाव सर्वथा विपरीत अर्थ मे भी समझा जा सकता है। नवगोप उसे ऐसे ही अर्थ मे लेने की कुचेष्टा करते है। कवि के मुख से गोपिका के रूप-यौवन की श्रद्धापूर्ण प्रशस्ति सुन कर आमोद तक के हृदय मे यह कलुषित भाव जागता है कि गोपियो का कृष्ण मुझमे ही है। उसकी कलुष-कल्पना राधा के क्रीडा निकेतन तक पहुँच जाती है। उसे अपने मन की स्वैर गति का उस समय भान होता है, जब उसे अपनी ही जीजी इंदु का ध्यान आ जाता है और वह अपने को अनधिकारी मान कर गोपी-स्तवन बद करने का आग्रह करता

है। परन्तु उसके साथियों का आग्रह ठीक इसके विपरीत होता है। वे गोपी के रूप-यौवन के चित्रण में निंबा नर्तकी की कल्पना करते हुए आनंदित अनुभव करते हैं। नवगोपों की इस मनोवृत्ति के उद्घाटन में क्या आज का यथार्थ-स्पर्श नहीं मिलता?

ब्रज पर दस्युओं का अत्याचार होता है—हत्या, अग्निकांड, अपहरण, अमानुषिक उत्पीड़न और न जाने क्या-क्या। परन्तु दुर्जय के इस कथन में क्या सत्य नहीं है?—'राज्य जो जहाँ हैं दस्युता की नींव पर ही टिके सब हैं।'

जिस तरह उन गोप ने द्वारावती में राजधानी बनायी है, उसी तरह वह भी वृंदवाटिका में नयी राजधानी बनायगा और इंदु को अपनी लक्ष्मीरूपा रुक्मिणी। दोनों में अंतर क्या है? भय, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, अविश्वास, सब-कुछ दोनों ओर है, अंतर शायद मात्रा का ही है। आक्रमण और प्रतिरक्षा का अंतर भी तत्वतः कोई वास्तविक अंतर नहीं है। कृष्ण के प्रति प्रेम-भक्ति चाहे वह इंदुमती जैसी क्यों न हो, इन कलुषित भावनाओं से मुक्ति होने की गारंटी नहीं है, प्रत्युत उसमें आत्मतोषपूर्ण अहंकार बढ़ने की संभावना ही अधिक है।

'गोपिका' की प्रेम-भक्ति भले ही उसे श्यामा के रूप में गिरिवर की चोटी पर स्थापित करा सके, श्री सुरभि पथ की प्राप्ति नहीं करा पाती, क्योंकि वैयक्तिक प्रेम-भक्ति अहंकार, स्वार्थ, लोभ, भेद बुद्धि आदि को जन्म देती है। राधा का उदाहरण सामने रखते हुए भी आज की गोपी भूल गयी है कि राधा ने निज को अश्रु-सागर में पीछे ढकेल कर प्रभु को जन-जन का बना दिया था, उसके विरह में ही पृथ्वी का समस्त सुख, श्री, सुहाग निहित है। राधा के इस दान का समस्त लोक सर्वदा ऋणी रहेगा, राधा की महापीड़ा उसका चिरगौरव है। गोकुल से द्वारका में कृष्ण का दर्शन करने गयी गोपी मंजुला ने रुक्मिणी के मुख से राधा की यह गौरव-गाथा सुनी और तब उसने अनुभव किया कि कृष्ण का दर्शन कर के वह क्या करेगी, रुक्मिणी में तो उसने राधा की झाँकी पा ही ली है। परन्तु नहीं, 'गोपिका' का कवि राधा के इस मात्र आत्मपीड़क महा-दान को भी सफल जीवन-यात्रा के लिए कदाचित पर्याप्त नहीं मानता। अतः वह द्वारका में मंजुला को सत्यभामा के शुद्ध, सात्विक कोप का परिचय दिलाता है जिसे वह भामराग कहता है। कृष्ण इस राग के वश में है। परन्तु सत्यभामा द्वारा भामराग के फलस्वरूप नंदनवन का पारिजात प्राप्त करना तभी सार्थक बनता है जब वह अपने गुरु नारद के आदेशानुसार पारिजात के साथ स्वयं अपने मुकुंद को भी सहर्ष नारद को अर्प देती है, जिससे वे जन-जन के, निखिल धरा के हो कर ही उसके रहे। मंजुला गोपी यही उदाहरण ले कर अपने श्याम को तुलसी की श्याम मंजरी के साथ भद्रसखा को अर्प देती है, निंबा नर्तकी भी अपना छप्पर और अपने श्याम भद्रसखा को दे डालती है। पुनः यह द्रष्टव्य है कि 'गोपिका' का कवि निंबा नर्तकी में इस समर्पण की अनुभूति इंदुमती से भी पहले कराता है, जब वह भद्रसखा को साक्षी बना कर अपने माधव को समर्पित

इंदुमती में सत्यभामा जैसे शुद्ध, सात्विक कोप की भावना थी अवश्य, परंतु वह सार्थक तभी होती है जब उत्पीड़क दस्युओं के द्वारा क्रूर की साध्वी, त्यागमयी पत्नी स्वस्ति के धाम को जलाने का समाचार सुन कर वह तड़प उठती है। इंदु के इसी सत्यभामराग में थी सुरभि पथ का संकेत है। वह सद्गम्या का प्रतिभू बना कर तुलसी की श्याम मंजरी की दक्षिणा के साथ वृंद वाटिका समेत अपने मुकुंद भी समर्पित कर देती है—

सत्यभामा की ही भाँति भावना है मेरी यही—
मेरे थे मुकुंद, वे सभी के हुए—
जन जन के, निखिल धरा के हो कर ही वे
मेरे बनें आज के दिवस से।

'गोपिका' की यही उपलब्धि है, जिसमें आज के क्षुद्र स्वार्थ, हिंसा, प्रतिहिंसा, सुरक्षा, प्रतिरक्षा, लोभ, दंभ और उत्पीडन से भरे विश्व की समस्याओं के समाधान का संकेत देखा जा सकता है। विशेषता यह है कि यह संकेत अत्यंत सरल, सहज काव्य की समस्त श्री सुषमा के साथ स्वतः व्यंजित हो जाता है, न इसमें कवि के किसी प्रयास का आभास मिलता है और न यह प्रकट होता है कि कवि इस उपलब्धि के प्रति अप्रत्यक्ष रूप से भी कोई दावा करना चाहता है।

अंत में आमोद के द्वारा कृष्ण के विराट रूप का दर्शन भी उच्च भावापन्न काव्य की चमत्कारमयी अनुभूति के ही रूप में वर्णित है, पौराणिक चमत्कार के रूप में नहीं। काव्य की परिणति आमोद के दिये गये श्रीकृष्ण के इस संदेश के रूप में होती है

हाथ में—हथेली में—किसी अंग में कहीं हो पीडा दाह
तो वह जलाता है समस्त देह, प्राण मन।
स्वस्थ रखना है तुम्हें सब को, निखिल को।
रहना तुम्हें है यहीं श्री सुरभि पथ पर।
संचय के साथ-साथ त्याग का उपार्जन करो सप्रेम
निस्संताप जूझना है पक्ष प्रतिपक्ष के समस्त दुर्जयों से,
सभी क्रूरों से, विजय समग्र पाओ—तब तक।
यह शक्ति पूजा भावना—आस्था से ही प्राप्त हो सकती है।

गोपिका के कवि ने कृष्ण-कथा के स्वरचित नवीन घटना-प्रसंगों और नवीन पात्रों की रचना कर के न केवल ऐतिहासिकता के भ्रम की आशंका से उसे सुरक्षित रखा है, वरन जिस पद्धति से उसने घटनाओं और पात्रों का प्रयोग किया है उसके कारण कथा की प्रतीकात्मकता को कहीं भी आघात नहीं पहुँचता। फिर भी, 'गोपिका' सर्वथा यथार्थ और सहज मानवीय भूमि पर प्रतिष्ठित है। किंतु उसकी ऐंद्रियता कहीं स्थूल नहीं हुई, शारीरिकता के सहज उद्रेक ने उसकी मान

सिकता और भावनात्मकता को आक्रांत नही किया। 'गोपिका' मे नारी सौंदर्य के अनेक वास्तविक चित्र मिलते है, मानव की कुरूपता के भी यथार्थ अंकन हुए है, परन्तु ऐसा नही लगता कि लेखक किन्ही रूढ वर्जनाओ और निषेधो से अनुशासित हो कर कोई अतिरिक्त सावधानी बरत रहा हो।

सत्य का स्थूल अन्वेषण असभव है। जिसे हम सत्य का अन्वेषण कह देते है, वह वस्तुत सत्य की उपलब्धि के पथ की ही खोज का प्रयास होता है। साहित्य मे इस प्रयास की सिद्धि अधिकतर शैली के ही रूप मे मिलती है। 'गोपिका' की नवीनता और मौलिकता कदाचित उसकी शैली मे ही है। शैली के अतर्गत वह सब आ जाता है जो काव्य को जन्म देता है, उसे रूपायित करता है—काव्य रूप, विषय के प्रति 'एप्रोच', अभिव्यक्ति की युक्तियॉ, वस्तु के साथ एकाकार हो कर कवि भावना का सगीतमय स्पदन, शब्दो की भगिमा, वक्रता, अतिशयोक्ति आदि आदि। वही काव्य-शैली सफल होती है जिसमे कवि की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति एकाकार हो जाय, दोनो मे व्यवधान का सदेह न हो। 'गोपिका' की शैली की सबसे बडी विशेषता यही है कि उसमे पूर्ण रूप से निजत्व प्रस्फुटित हुआ है। ऋण के सबध मे 'गोपिका' की रुक्मिणी ने बडी अच्छी उक्ति की है

> लेता ही न हो जो वह देगा क्या ?
> ऋण मे उऋण मे, श्वसन-निश्वसन मे ही जीवन की गति है।
> भाग्यवती हूँ मै राधिका के ही ऋण से।
> अर्जन है मेरा यही।
> मेरा यही गौरव है।

निश्चय ही 'गोपिका' के कवि ने भी ऐसा अर्जन किया है—चिर प्राचीन कथा के असख्य गायको से और उनकी अभिव्यजना के वैभव से। परतु यह अर्जन ही है, ऐसा ऋण नही जो ऋणी के आत्म को खडित कर उसे निर्लज्ज या अधोगत बनाये। यही उसका गौरव है।

'गोपिका' की भाषा अत्यत मँजी हुई और व्यजनाप्रधान है। इस कला-शिल्पी कवि की बहुत बडी सफलता यह है कि उसमे कही कृत्रिमता नही प्रकट होती। कवि का यह कथन कि लगता है इसका निर्माण नही, स्वत प्रस्फुटन हुआ है—उसकी कृति से अक्षरश प्रमाणित होता है। मुक्त छद की एक-एक पक्ति जैसे आगे वाली पक्ति या चरण को स्वत खोलती जाती है। प्रत्येक शब्द की अनिवार्यता को सिद्ध करता हुआ ऐसा छद-प्रवाह कवि के मानस के अनायास प्रस्फुटन से ही सभव हो सकता है। भावधारा मे ही नही, भाषा-प्रयोग मे भी कवि के सहज, सुथरे, सयत, अनुशासित और सतर्कता से सँवारे हुए व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हुई है। लगता है 'गोपिका' की रचना कवित्व का पूर्ण वैभव लिए हुए इस मुक्त छद मे ही सभव थी। सपूर्ण 'गोपिका' सहज लययुक्त गीति-भावना से अनुप्राणित है। भावना की सकुलता, सघनता और तीव्रता के स्थलो पर जिन गीतो का प्रयोग हुआ है, उनमे भी वैसी ही सहजता है, यद्यपि मात्रा और तुका-न्त के बधन के कारण उनमे कही-कही कवि को गढने, जडने और भरने का अनिवार्य कवि-कर्म

भी करना पड़ा है। परन्तु गद्यात्मकता उसमें कहीं छू भी नहीं गयी। घटना-प्रसंगों और संवादों में नाटकीयता एक सफल कथा काव्य का स्वाभाविक लक्षण होता है, 'गोपिका' में यह लक्षण पद-पद पर प्रकट हुआ है। परन्तु उसे हम गीति नाट्य की विधा में बांध कर नहीं देख सकते। प्रत्येक कृति का काव्य-रूप उसकी विषय-वस्तु और कवि की उस विषय वस्तु की भावात्मक धारणा पर निर्भर होता है। उसका नामकरण करने पर प्रायः उसके साथ पूरा न्याय नहीं हो पाता। परन्तु यदि कहना ही चाहें तो हम 'गोपिका' को प्रतीकात्मक गीति-कथा काव्य की संज्ञा दे सकते हैं।

पहले कह चुके हैं कि 'गोपिका' का कथानक कवि ने स्वयं रचा है, उसके पात्र भी कवि-निर्मित हैं, यद्यपि इन दोनों का विकास परंपरागत कथा और उसके पात्रों से ही हुआ है। इसके कारण कवि का कार्य जहां एक ओर सरल हुआ है, वहाँ एक कठिनाई भी आ गयी है। सतही तौर पर देखने में इस धारणा के लिए बहुत गुंजाइश हो गयी कि 'गोपिका' में मध्ययुगीन भावबोध की अथवा, अधिक से अधिक, आधुनिक सुधारवादी भावधारा की रचना है। वस्तुतः इन दोनों में से एक भी धारणा सही नहीं है।

आधुनिकता और अति-आधुनिकता के वर्तमान दौर में 'गोपिका' की रचना का औचित्य यदि उपरोक्त विवेचन से सिद्ध न हो सका हो तो अंत में इतना और कहा जा सकता है कि आधुनिक, कदाचित अति-आधुनिक कवि भी पुराण-कथाओं और लोक-कथाओं का प्रयोग करते हैं। 'गोपिका' के कवि ने यदि एक विश्रुत भारतीय पुराण-कथा के सहारे भावमय चिंतन किया है तो इसी कारण उसे पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। अंततोगत्वा कवि की पहुँच की प्रक्रिया (एप्रोच) और उसकी तक्नीक से ही उसका नयापन आँका जा सकता है। पुराने सत्य को प्रस्तुत करना भी कोई प्रतिक्रियावाद नहीं है—वस्तुतः सत्य यदि सत्य है तो वह नया या पुराना नहीं होता। जैसा कहा जा चुका है, सत्य की उपलब्धि का मार्ग ही कलाकार की मौलिकता का द्योतक होता है। 'गोपिका' की निभा के इस कथन में कवि का स्वर मिला हुआ है

> सत्य वह नहीं जो अतीत में ही रम जाय—
> वर्तमान तक जो न आ सके।

अतीत के सत्य को निश्चय ही 'गोपिका' के कवि ने नयी दृष्टि से देखा है, उसे वर्तमान तक लाने में उसका नवीन प्रयास शुद्ध काव्य की जिस पद्धति से हुआ है वह सिद्ध करता है कि ऐसी रचना की नहीं जाती, कभी-कभी ही अपने आप हो जाती है।

—निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान,
गांधी नगर, आगरा।

'विवेचना' मे 'गोपिका'

रविवार २४ जनवरी १९६५ को सायकाल एनीबेसेंट मेमोरियल हॉल मे श्री बालकृष्ण राव की अध्यक्षता मे डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा ने स्वर्गीय सियारामशरण गुप्त की काव्य-कृति 'गोपिका' पर समीक्षात्मक निबध प्रस्तुत किया। निबध-पाठ के बाद प्रश्न उठाये गये, विचार-विमर्श हुआ जिसमे भाग लिया डॉक्टर हरदेव बाहरी, डॉक्टर जगदीश गुप्त, श्री लक्ष्मीकात वर्मा, डॉक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी, डॉक्टर राजेंद्र कुमार वर्मा, श्री विश्वम्भर मानव, डॉक्टर वीरेंद्र सिंह, डॉक्टर रघुवश, श्री शमशेर बहादुर सिंह, श्री सुरेंद्रपाल सिंह तथा श्री बालकृष्ण राव ने।

डॉक्टर हरदेव बाहरी ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहा कि सियारामशरण जी सिद्धहस्त कवि थे, उनकी प्रतिभा पर किसी को सदेह नही, किंतु उनकी प्रतिभा 'गोपिका' मे नही उभर पायी है। कवि से जैसी अपेक्षा थी वैसी कृति यह नही है। इसमे पात्रो की इतनी अधिकता है कि सबको बराबर पहचान मे रखना कठिन है। कई स्थलो पर भाषा सबधी त्रुटिया खटकती है और लय म कही कही दोष है। 'गोपिका' मे कुछ राजनीतिक सकेत है, लेकिन वे स्पष्ट नही है। फलस्वरूप कथावस्तु द्वारा जिस आधुनिकता का बोध होना चाहिए था वह नही हो पाता है। वैसे डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा की समीक्षा अच्छी है। उन्होने विशद रूप मे 'गोपिका' के हर पक्ष की समीक्षा की है।

डॉक्टर जगदीश गुप्त ने समीक्षक से अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहा कि डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा ने, यदि कहा जाय कि सूरदास की गोपी से 'गोपिका' की इदुमती की तुलना कर के तथा इदुमती को उससे श्रेष्ठ जता कर दु साहस का ही परिचय दिया है, तो असगत न होगा। वस्तुत 'गोपिका' कृष्ण-कथा को सामाजिक सदर्भ देना चाहती है, लेकिन इदुमती का व्यक्तित्व अपरिपक्व है। उसमे रुक्मिणी और राधा की छाया है। आरोपण की गध जैसी हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त और धर्मवीर भारती मे है, वैसी ही 'गोपिका' मे भी है। समीक्षक ने आवश्यकता से अधिक प्रशसा की है। काव्य का आतरिक सौंदर्य बिखरा हुआ है। वस्तु मे एकरूपता नही है। तात्पर्य यह कि वस्तु, भाव और कथ्य मे सगति नही है। किंतु इन कमियो के बावजूद यह अवश्य कहा जायगा कि द्विवेदी-युग मे जो कृष्ण कथा सुधारवादी दृष्टिकोण के कारण दूषित [illegible] उसमे नही है। बहुत ही सयत ढग से सियारामशरण जी ने कृष्ण कथा को

प्रस्तुत किया है। किंतु समीक्षा सुनने के बाद इतना तो कहना ही पड़ेगा कि इस रचना और इस पर की गयी समीक्षा ने समस्या को बढाया ही है।

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा चूंकि निबंध-पाठ के बाद गोष्ठी में सम्मिलित हुए थे, इस कारण उन्होंने रचना पर ही अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि सियारामशरण जी ने अपने 'नारी' उपन्यास से विकास कर 'गोपिका' की रचना की है। 'गोपिका' में भावना और भावुकता की अपेक्षा थी और वह अपेक्षा पूरी हुई है। श्री वर्मा ने रेहाना तैयब की 'दि हार्ट आफ गोपी' से 'गोपिका' की तुलना करते हुए कहा कि 'गोपिका' की भावनात्मक अभिव्यक्ति अधिक प्रखर है। रेहाना तैयब ने गोपी के चरित्र को राष्ट्रीय संदर्भ में रखने की चेष्टा की है। किंतु इस कार्य में वास्तविक सफलता मिली है सियारामशरण जी को। भारती की 'कनुप्रिया' में विकृति है, जब कि 'गोपिका' में कहीं भी किसी प्रकार की विकृति नहीं है। 'गोपिका' में जहां गद्य और पद्य के प्रयोग का प्रश्न है, वहां यह कहना पर्याप्त है कि प्रत्येक कलाकार अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम तलाश करता रहता है। यह उसकी निजी समस्या होती है। सियारामशरण जी ने दोनों का प्रयोग संतुलित रीति से किया। 'गोपिका' को एक सफल काव्य-रचना माना जाना चाहिए।

डाक्टर रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा कि आधुनिक पाठक के लिए यह काव्य-कृति एक समस्या है, खास तौर पर उस स्थिति में जब कवि अपनी रचना में असफल नहीं है। 'गोपिका' की इंदुमती निःसंदेह सूर की रोने बिलखने वाली गोपी नहीं है। किंतु यह बात कह भर देने में ही आधुनिक पाठक की समस्या खत्म नहीं हो जाती। यदि 'गोपिका' के संबंध में कहा जाय कि आधुनिक समय की यह घोषित 'चैटटन कविता' है तो भी बात नहीं बनती क्योंकि 'चैटटन कविता' की अनजान में जितनी अधिक प्रशंसा हुई उतनी ही अधिक निंदा उसके रचयिता के रहस्योद्घाटन पर हुई। किंतु हम इसे सियारामशरण जी की घोषित कविता अवश्य कह सकते हैं। 'गोपिका' में ब्रज प्रदेश और उसकी संस्कृति की मार्मिक अभिव्यक्ति खड़ी बोली के माध्यम से उत्कृष्ट रूप में हुई है। इस रचना में गद्य-पद्य का भेद नहीं है। यह संपूर्ण रूप से एक काव्य है। वैसे भाषा-प्रयोग मध्ययुगीन ढंग के हैं लेकिन कहीं-कहीं भाषा के अत्याधुनिक प्रयोग भी हैं। इसमें प्रयुक्त भाषा, शिल्प तथा बिंब को देख कर मानना पड़ेगा कि यह पिछड़ी रचना नहीं है। 'गोपिका' में एक तथ्य और भी द्रष्टव्य है। पूरी रचना में कवि ने ग्रामीण जीवन की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया है। लगता है दिल्ली और चिरगाँव के तनाव के बीच कवि चिरगाँव की रक्षा चाहता है। 'गोपिका' का यह प्रमुख आकर्षण है। इसमें संक्रमणशील संस्कृति का विश्लेषण है। सियारामशरण जी में गीतात्मक गुण के साथ प्रबुद्ध तत्व भी वर्तमान हैं जो 'गोपिका' को सफल कलात्मक रूप देते हैं।

डॉक्टर राजेंद्र कुमार वर्मा ने समीक्षक के सम्मुख दो प्रश्न प्रस्तुत किये। पहला तो यह कि सूरदास के द्वारा प्रणीत कृष्ण-काव्य की तुलना क्या 'गोपिका' से करना उचित है? दूसरा प्रश्न था कि 'गोपिका' में कृष्ण-कथा का उपयोग करते हुए इतने अधिक पात्रों की सर्जना का क्या कारण है?

श्री विश्वम्भर मानव ने 'गोपिका' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि यह ठीक है कि यह युग भक्ति का नहीं है किंतु 'गुप्त परिवार' भक्तों का परिवार रहा है। सियारामशरण जी में कृष्ण-भक्ति की भावना का स्वर प्रमुख है। कथ्य और शैली के स्तर पर भक्ति के साथ 'गोपिका' एक प्रेम काव्य भी है। कवि ने इस रचना में प्रेम के दुहरे आंतरिक संघर्ष को भक्ति के द्वारा समन्वित करना चाहा है। इसमें प्रेम में असफल होने के प्रतीक हैं दुर्जय और क्रूर जो प्रति-क्रिया में निरंतर घात-प्रतिघात करते हैं। 'छप्पर' को ले कर इंदुमती और निरा का संघर्ष प्रेम के दूसरे पक्ष का संघर्ष व्यक्त करता है। चूंकि कवि में गांधीवादी दृष्टि है, इस कारण इस रचना में क्रूरता को प्रेम की भावना से पराजित करने का प्रयत्न किया गया है। कृष्ण द्वारा दुर्जय को रुक्मिणी के साथ भेजना प्रेम का एक उदात्त रूप है। कथानक में क्रमबद्धता है। छंद-योजना ऐसी है कि कथा कहीं से भी खंडित नहीं हो पाती।

डॉक्टर वीरेंद्र सिंह ने कहा कि समीक्षक ने जिस 'प्रतीकात्मकता' की बात कही है, वह वास्तव में आरोपित प्रतीकात्मकता है। अतः प्रश्न है कि कथा में 'प्रतीकात्मकता' से समीक्षक का तात्पर्य क्या है?

डॉक्टर रघुवंश ने कहा कि यद्यपि डाक्टर व्रजेश्वर वर्मा की समीक्षा पुराने ढंग की है तो भी समीक्षक का विश्लेषण कृष्ण के प्रति भावात्मक व्यंजना को स्पष्ट करता है। लेकिन प्रश्न तब भी बना रह जाता है कि आधुनिक समय में रचित इस काव्य का विशिष्ट प्रयोजन क्या है? क्या इस रचना में व्यापक संघर्ष का तत्व है? यह सत्य है कि इसकी गीतात्मकता में प्रवाह है, सूरदास की तुलना में इसका संदर्भ अधिक सामाजिक है, पात्रों की अधिकता भी नहीं खटकती, तो भी यह रचना हमें कोई दिशा नहीं दे पाती। कवि ने प्रगीत का बौद्धिक स्तर पर अच्छे ढंग से निर्वाह किया है, कृति में सौंदर्य है और युग का दर्शन भी है किंतु हम यह नहीं कह सकते कि इनका उद्घाटन 'गोपिका' में पूरी सफलता के साथ हुआ है।

श्री शमशेर बहादुर सिंह ने कहा कि पुस्तक तो नहीं देख सका हूँ लेकिन समीक्षा के उद्धरणों को सुनने से विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वैसे पूरी रचना पढ़ने के बाद ही कुछ कहा जा सकता है। तो भी इतना तो कहना ही चाहूँगा कि इस महत्वपूर्ण कृति के बहुत समीप नहीं हो सका हूँ, अतः निराशा ही हुई है।

श्री सुरेंद्रपाल सिंह को लगा कि 'गोपिका' प्रतीक-काव्य है। उन्होंने कहा कि कृष्ण-कथा सदैव युग के अनुकूल प्रस्तुत की गयी है। सियारामशरण जी ने देश की वर्तमान राजनीति को प्रतीक रूप में 'गोपिका' में प्रस्तुत किया है।

अध्यक्ष श्री बालकृष्ण राव ने कहा कि मैं 'गोपिका' को निश्चयपूर्वक उत्कृष्ट काव्य-कृति मानता हूँ। यह सर्वथा सफल काव्य है। मैं नहीं मानता कि उद्देश्य विशेष से इसका सृजन हुआ है। यह गीतकार कवि की सहज प्रक्रिया है। चूँकि 'गोपिका' की रचना एक लंबी अवधि में हुई है, इस कारण समय-समय पर जो प्रभाव कवि पर पड़े उन सबका समावेश इस कृति में सहज ही हो गया है। 'गोपिका' में विचार-तत्व रागात्मकता के साथ सुंदर रूप से जुड़ा हुआ है और साथ [illegible] भी आने पायी है। सियारामशरण जी ने 'गोपिका' से

अनेक पात्र रखे है, किंतु पात्रो की बहुलता खटकती नही है, क्योकि कवि का कथ्य सर्वत्र व्याप्त है, वह सतत वर्तमान है। इसी कारण सबका सब सहज मालूम पड़ता है। 'गोपिका' मे कई जगह लगता है कि आरोपित प्रतीक है। किंतु बात ऐसी नही है। वास्तव मे इस युग मे हम जिस ढंग से एक कृति को पढ़ते हुए उसमे अपेक्षा रखते है, वह स्वयं ही असहज है। यह हमारी असहज दृष्टि है कि हम 'गोपिका' मे प्रतीक ढूंढते है।

'गोपिका' की रचना को यदि हम संपूर्ण निर्मिति के रूप मे देखे तो कहीं-कहीं हम शैथिल्य दिखायी पड़ता है। वस्तुतः इस लंबी रचना को मै गीतकार कवि का साहस (एडवेंचर) मानता हूँ। इस कारण शैथिल्य-दोष स्वतः गौण हो जाता है। चूंकि हम सियारामशरण जी को जानते है इसीलिए गांधी दर्शन की बात उठती है अन्यथा यह काव्य मूलतः अनुभूति पर बल देता है। सियारामशरण जी इस युग के सर्वथा सहज और अकृत्रिम कवि है। उनका व्यक्तित्व सहज रूप से आधुनिक है। जिस काव्य मे सच्चे अर्थ मे मौलिकता, सहज सादगी और सहज काव्यात्मकता होती है, वह श्रेष्ठ काव्य माना जाता है। 'गोपिका' मे ये तीनो गुण है। इसलिए यह इस युग का श्रेष्ठ काव्य है।

अंत मे डाक्टर व्रजेश्वर वर्मा ने उदाहरण सहित सबका समाधान करने की चेष्टा करते हुए कहा कि 'गोपिका' मे भाषा और लय की त्रुटियाँ नही है। काव्य रचना कही भी खंडित नही हुई है। डॉक्टर वर्मा ने सूर और 'गोपिका' संबंधी विवाद का समाधान करते हुए कहा कि सूर मे भक्ति का बोझ है। 'गोपिका' मे भी बोझ है लेकिन धरातल व्यापक है। इस रचना मे भक्ति, प्रेम और गांधीवाद का आरोपण करना स्थूल दृष्टि है। वास्तव मे 'गोपिका' का रचयिता विशुद्ध कवि है। उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति मे अंतर नही है। पाठको की दृष्टि ऐतिहासिकता के बोझ से दबी रहती है, इसी कारण इसमे आरोपण की गंध आने लगती है। वस्तुतः कवि ने इसमे ऐतिहासिकता को बिलकुल नही आरोपित होने दिया है।

इस रचना मे कृष्ण की भावना को व्यापकता दी गयी है। इसमे कृष्ण को ही समर्पित किया गया है। कृष्ण के प्रति समर्पण का भाव इसमे नही है। कवि का संदेश है कि कृष्ण को सबके लिए न्योछावर कर दो नही तो कमजोरी सिद्ध हो जायगी। उसकी दृष्टि मे कृष्ण के सबके लिए समर्पित करने से ही जीवन को पूर्णता मिल सकती है। इसके अतिरिक्त, यह कहना कि इसमे संघर्ष का तत्व स्पष्ट नही है, उचित नही। 'गोपिका' मे व्यापक संघर्ष है जो जीवन से जुड़ा हुआ है। जीवन के मोह को समर्पित करने की भावना को जिस रीति से इसमे व्यक्त किया गया है, वह आधुनिक है और स्तुत्य है। 'गोपिका' मे जिस शिथिलता की ओर इशारा किया गया है, उस संबंध मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि 'गोपिका' को हम संपूर्ण गीत-काव्य के रूप मे देखें तो शिथिलता का प्रश्न नही उठता। दूसरे, द्विवेदी-युग वाली कृष्ण-कथा की विकृति से भी 'गोपिका' सर्वथा मुक्त है।

—विवेचक

समीक्षाएँ

हिंदी भाषा आंदोलन

संकलनकर्ता, श्री लक्ष्मीचंद। हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग। १८८५ शकाब्द। प्रथम संस्करण। मूल्य ९.००।

प्रस्तुत पुस्तक—'हिंदी भाषा आंदोलन' में प्रसिद्ध साहित्यकार, राजनीतिज्ञ सेठ गोविंददास के कौंसिल ऑफ स्टेट, संविधान सभा, लोक सभा तथा सार्वजनिक आयोजनों इत्यादि विविध अवसरों पर दिये गये भाषणों का संकलन है। कुछ प्रश्नोत्तर एवं सूर, तुलसी और केशवदास पर भाषण भी इसमें सम्मिलित है। सूर, तुलसी एवं केशवदास संबंधी भाषणों को छोड़ कर शेष समस्त भाषण राष्ट्रभाषा हिंदी और उससे संबंधित विभिन्न समस्याओं पर सेठ गोविंददास जी के निर्भीक विचार व्यक्त करते हैं। राष्ट्र-भाषा तथा तत्संबंधी कोई समस्या, कोई पहलू, कोई प्रश्न छूटा नहीं है जिसका कहीं न कहीं सेठ जी के भाषणों में उल्लेख न आया हो और जिसका उन्होंने अकाट्य तर्कों, दूसरे को हत्वाक्य कर देने वाले तर्कों के साथ उत्तर न दिया हो। हिंदी बनाम उर्दू, हिंदी बनाम हिंदुस्तानी, हिंदी बनाम प्रांतीय भाषाएँ, हिंदी बनाम अंग्रेजी, हिंदी बनाम रोमन लिपि, हिंदी और देश की भावात्मक एकता, हिंदी और पारिभाषिक शब्दावली, हिंदी और प्रजातंत्र, हिंदी और शिक्षा-माध्यम, हिंदी और प्रशासन के विविध क्षेत्रों में उसका व्यव-हार आदि सभी प्रश्नों का सेठ जी ने गंभीर विवेचन-विश्लेषण किया है। अपने इन भाषणों के द्वारा उन्होंने बहुत सी प्रचलित भ्रांतियों को दूर करने की चेष्टा की है, हिंदी के विकास-प्रसार में रोड़ा अटकाने वाले तत्वों पर कुठाराघात किया है और हिंदी को उसका उचित स्थान दिलाने की दिशा में उसका मार्ग प्रशस्त किया है।

सेठ जी उन गिने-चुने व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने अपना संपूर्ण जीवन हिंदी की सेवा, समृद्धि एवं संवर्धन के लिए समर्पित किया है। हिंदी को अपने वर्तमान राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित होने के लिए बहुत विरोध और संघर्ष सहना पड़ा है और सेठ जी ने इस विरोध और संघर्ष को अपना समझ कर अपने कंधों पर झेला है। हिंदी भाषा को आगे बढ़ाने वालों और उसके अनन्य समर्थकों में टंडन जी के पश्चात् यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वह सेठ गोविंद दास का है। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के आंदोलन से सेठ जी शुरू से ही संबंधित रहे हैं और आज भी वह उसके प्रमुख प्रवक्ता हैं। चार दशक पूर्व गूंजी उनकी वाणी आज भी खामोश नहीं हुई है। हिंदी को ऐसी अथक लगन, ऐसी अटूट निष्ठा और ऐसे अखंड विश्वास वाला वकील मिला, यह उसका सौभाग्य है। सेठ जी सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने १६ मार्च सन १९२७ को कौंसिल ऑफ स्टेट में अपनी आवाज बुलंद की कि भारतीय विधान-मंडल में अंग्रेजी के साथ-साथ हिंदी या उर्दू में भी भाषण करने की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। 'हिंदी या उर्दू' शब्द का प्रयोग उन्होंने

साभिप्राय किया था। उन्ही के शब्दो में 'मैं यहाँ यह भी कहना चाहूँगा कि हिंदी और उर्दू एक ही भाषा है। दोनो की बनावट और दोनो का व्याकरण एक ही है।'

भारत में अंग्रेजों का शासन जब अच्छी तरह स्थापित हो गया तब उन्होने अपनी संस्कृति और भाषा हम पर लादनी शुरू की। हमें अंग्रेजी भाषा और साहित्य पढ़ाने का उनका उद्देश्य हमारी राष्ट्रीयता को खत्म करना और अपने साम्राज्य की जड़ें मजबूत करना था। मेकाले के आदेशानुसार अदालतों और शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो गयी और ब्रिटिश शासन में नौकरी प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी अनिवार्य घोषित कर दी गयी। नौकरियाँ पाने को लालायित भारतीयो ने अंग्रेजी जम कर सीखी, सीखी ही नही उसे अपने खून की बूँद-बूँद में रचाया रमाया। वे बूँदे आज भी बोलती दिखायी देती है। अंग्रेजी हमारी भारतीय भाषाओं पर अमरबेल की तरह छा गयी और उनके विकास सत को चूस-चूस कर उनको निश्शक्त करने लगी। यह सच है कि यदि अंग्रेज भारत में न आये होते और हम पर कोई विदेशी भाषा न थोपी गयी होती तो हमारी सभी भारतीय भाषाएँ अपने स्वाभाविक विकास से किसी भी वैज्ञानिक-तकनीकी विषय को अभिव्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हो गयी होती, उनकी सर्व-विषय-व्यंजक क्षमता कल्पनातीत रूप से बढ़ गयी होती।

स्वतंत्रता आंदोलन के साथ शीघ्र ही राष्ट्रभाषा का सवाल भी जुड़ गया था क्योंकि भाषायी स्वतंत्रता के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता कोई अर्थ नहीं रखती। अनेक कारणों से हिंदी राष्ट्रभाषा के पद के समीचीन जान पड़ी। कांग्रेस में गांधी जी के आगमन के साथ उनकी कार्यवाही बजाय अंग्रेजी के हिंदी में होने लगी। सेठ गोविंद दास तब भी कांग्रेस में थे। उन्होंने इस परिवर्तन का बड़े जोर शोर से समर्थन और स्वागत किया। लेकिन अंग्रेजो ने 'भेद करो और शासन करो' की नीति से हिंदी को राष्ट्रभाषा स्वीकारने की माँग को साम्प्रदायिक बताया और उर्दू को प्रोत्साहन दिया। निजाम हैदराबाद उर्दू को राष्ट्रभाषा बनाने का बड़ा प्रयत्न करते रहे। ब्रिटिश सरकार ने भी उर्दू को अदालतों में मान्यता प्रदान की। सेठ जी ने हमेशा इस अन्याय का विरोध किया और उसके पीछे अंतर्निहित नीति का भंडाफोड़ किया।

हिंदी को दूसरा संघर्ष हिंदुस्तानी से करना पड़ा। महात्मा जी निजाम के पिट्ठू कुछ खद्दरधारी उर्दू विद्वानो के कुचक्र में फँस गये थे और उन्होंने हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए हिंदी-उर्दू के मिश्रित रूप—हिंदुस्तानी, और उसके लिए देवनागरी तथा अरबी दो लिपियो के व्यवहार को स्वीकार कर लिया। राजर्षि टंडन, डॉ० संपूर्णानंद और सेठ गोविंद दास ने इसका घोर प्रतिवाद किया और महात्मा जी से असहमत होते हुए इसे अव्यवहारिक तथा अवैज्ञानिक बताया। 'हिंदुस्तानी कोई भाषा है ही नहीं। उसका न कोई व्याकरण है, न साहित्य। जिस भाषा का अस्तित्व ही नहीं, वह राष्ट्रभाषा कैसे बनायी जा सकती है? . हिंदुस्तानी कही जाने वाली भाषा में बाजारों में बोले जाने वाले शब्दों के अतिरिक्त वैज्ञानिक और शास्त्रीय शब्दों का न निर्माण हुआ है और न हो सकता है।'

लेकिन जिस एकता को महात्मा जी कायम करना चाहते थे वह न हो सकी, तो हिंदुस्तानी और उसकी दो लिपियो से उनका

विश्वास उठ गया। २४ जनवरी सन १९४८ के 'हरिजन सेवक' मे 'क्रोध नही, मोह नही' शीर्षक लेख मे उन्होने स्पष्ट लिखा, 'लिपियो मे सबसे आला दर्जे की लिपि नागरी को ही मानता हूँ। यह कोई छिपी बात नहीं है। मै मानता हूँ कि नागरी और उर्दू लिपि के बीच अत मे जीत नागरी लिपि की ही होगी।'

जब भारत स्वतंत्र हुआ, भारतीय सविधान सभा ने सर्वसम्मति से भारत की राजभाषा हिंदी, और लिपि देवनागरी घोषित की। विरोध का स्वर अब गैरहिंदी प्रातो, विशेषत दक्षिण और बगाल, से उठने लगा। हिंदी के राष्ट्रभाषा होने मे उन्हे अपनी प्रातीय भाषाओ का गला घुटता नजर आया। सेठ जी ने अपने भाषणो मे अनेक स्थानो पर कहा है कि हिंदी का प्रातीय भाषाओ से कोई वैर नही है—'प्रातों की शिक्षा का माध्यम, वहा की धारा-सभाओ और न्यायालयो की भाषा प्रातीय भाषा ही रहे। हाँ, केंद्रीय तथा अतर्प्रांतीय सारे कार्य राष्ट्रभाषा हिंदी मे ही होने चाहिए।' (पृ० १६१)। वास्तव में यह विरोध अहिंदी प्रातो की जनता का न हो कर निहित स्वार्थों वाले कुछ राजनीतिक दलो का है। एक अन्य स्थान पर सेठ जी ने इस ओर सकेत करते हुए कहा है, 'हिंदी का विरोध कुछ शोर मचाने वाले कर रहे हैं, जिनका स्वार्थ अग्रेजी से सधता है वे कर रहे हैं, वहाँ (दक्षिण) की जनता नहीं कर रही।' ('माध्यम', जुलाई १९६४, पृ० १०९)। दक्षिण की जनता विरोध कैसे कर सकती है? भारतीय सविधान के अस्तित्व मे आने के छह सौ वर्ष पूर्व चौदहवी शताब्दी के बहमनी वंश के शासन मे दक्खिनी (हिंदवी-हिंदी) को राजभाषा सर्वप्रथम दक्षिण ने बनाया था, और बहमनी वंश के दो सौ वर्ष बाद तक दक्खिनी राजभाषा तथा आम जनता की भाषा बनी रही थी। दक्खिनी को राजभाषा के पद पर आसीन करने का सर्वप्रथम श्रेय दक्षिण को है, हमे नही।

आज हिंदी का प्रमुख रूप से सघर्ष प्रातीय भाषाओ से न हो कर अग्रेजी से है। अग्रेज चले गये पर अपनी जहनी औलाद छोड गये। इनको भी साथ लेते जाते तो कितना अच्छा होता। ये अग्रेजीदा 'भारत की मुक्ति, भारत का भविष्य, भारत की समृद्धि अग्रेजी और केवल अग्रेजी पर ही आधारित' देखते है 'जब अग्रेज इस देश मे नहीं आये थे, जब अग्रेजी इस देश मे नहीं आयी थी, तब इस देश के लोगो ने अपनी जीवनधारा कैसे चलायी थी, प्रकृति से कैसे सघर्ष किया था, राजनीतिक तत्र कैसे स्थापित किये थे और भूमि एव अतरिक्ष के अनेक सत्यो का कैसे पता चलाया था?' (पृ० २१९)।

शायद इन लोगो के ख्याल से अग्रेजो के आने से पहले हम भेडे चराते थे, हमारी सस्कृति बहुत आदिम अवस्था मे थी।

ये आग्ल-चेतना के लोग अग्रेजी की टाँग पकडे रखने के लिए तरह-तरह के कुतर्क देते हैं कि अग्रेजी विश्व ज्ञान-विज्ञान का झरोखा है (अगर दीदे ही फूटे हो तो कोई झरोखे मे से क्या देखेगा!), अग्रेजी अतर्राष्ट्रीय सबधो का आधार है ('यह बात फ्रास, रूस, दक्षिण अमरीका, चीन आदि के लिए आवश्यक क्यो नहीं?'—पृ० २३८), अग्रेजी राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है ('इस के पीछे उनका वैसा ही स्वार्थ है, जैसा कि अग्रेजो का स्वार्थ उनके अपने राज्य के समर्थन के पीछे था। अग्रेजी के द्वारा ही इन लोगो के लिए

सभव हो रहा है कि वे भारत की जनता के कधो पर बैठ कर भारत की जनता से उसी प्रकार परिश्रम करा कर, जैसे कि अग्रेज कराते थे, स्वय सुख भोगें, गुलछर्रे उडायें।'—पृ० २२२–२३), अग्रेजी के द्वारा ही भारतीय प्रजातत्र को सुचारु रूप से चलाया जा सकता है ('हमारे देश मे भी वर्तमान प्रणाली की सफलता-विफलता हमारे इतिहास, हमारी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था, हमारे आदर्शों और भावनाओ पर निर्भर करेगी न कि अग्रेजी पर।'—पृ० २२८)। इसी प्रकार की विविध दलीले दे कर ये लोग अग्रेजी के प्रभुत्व को जमाये रखना चाहते है। सेठ जी ने अपने इन भाषणो मे एक एक दलील का मुँहतोड जवाब दिया है और अगर ये ईमानदारी से बात करे तो सेठ जी का प्रतिखडन नही कर सकते।

इसी वर्ग के लोगो का राजनीति मे प्रभाव का परिणाम था कि जनवरी, १९६५ के बाद भी अग्रेजी को जारी रखने का विधेयक पारित हो गया। ससद मे जब यह विधेयक प्रस्तुत हुआ था तो काग्रेस मे सेठ जी अकेले व्यक्ति थे जिन्होने इसका जबर्दस्त विरोध किया था और अपना मतदान भी इसके विरोध मे किया था।

वास्तव मे जब जब हिंदी भाषा पर सकट आया है सेठ जी चुप नही रह सके है। उनकी वाणी फूट निकली है। हिंदी के उत्थानीकरण और उन्नयन मे उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है जिसे हिंदी ससार विस्मृत नही कर सकता। सरकार का हिंदी के प्रति अच्छा रुख न होने पर भी प्रतिज्ञात लक्ष्य तक पहुँचने की दिशा मे जो भी प्रगति हुई है, जो भी कार्य हुआ है उसमे सेठ गोविद दास जी के व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण योगदान है। उनके भाषणो का यह सग्रह हिंदी-जगत सर आँखों पर रखेगा।

भाषणो की भाषा मे, क्योकि ये भाषण है, दरिया जैसी रवानी है।

—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

हिंदी कहानियाँ और फैशन

उपेंद्रनाथ अश्क की समीक्षा पुस्तक। प्रस्तुतकर्ता सुरेश सिनहा। नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद। सन १९६४। मूल्य ४ ००।

कुछ महीने पहले 'परिमल' द्वारा आयोजित एक परिचर्चा मे अश्क ने एक लेख पढा था जिससे, सुना है, बडा हगामा मचा। उस लेख मे कुछ लेखको की उपहास की हद तक पहुँचने वाली आलोचना थी और वे लेखक वहाँ उपस्थित थे। भरी सभा मे उनके सामने अश्क ने अपने विशिष्ट अदाज मे उनकी खिल्ली उडायी होगी, तो उत्तेजना पैदा हुई ही होगी। लेख इसी अर्थ मे उत्तेजक था—किसी और अर्थ मे नही।

वह उत्तेजक लेख इस पुस्तक मे है। साथ ही डा० सिनहा द्वारा लिया गया अश्क का इटरव्यू है। इतनी मूल सामग्री के सिवा और भी चीजें है—लेख और इटरव्यू का इतिहास सबधी अश्क का लेख, सुरेश सिनहा की भूमिका तथा उक्त लेख-पाठ से उत्पन्न हगामे की रिपोर्ट।

सामग्री और उसका प्रस्तुतीकरण बहुत नाटकीय है। 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' जैसे शीर्षक, स्टट फिल्म के सिनेरियो-जैसी गोष्ठी की रिपोर्ट,

उल्लेख कि अमुक लेखक दिल्ली से लेख सुनने के लिए ही प्रयाग भागे आये, एक दो प्रशंसा के पत्र जिनकी 'टोन' उस विज्ञापन जैसी है, जिसमें मेरठ से कोई सूरजप्रसाद लिखते हैं कि तीन खूराक लेने से फायदा महसूस होने लगा। पूरी पुस्तक की 'स्पिरिट' विचारात्मक न होकर ऐसी है जैसे किसी साहसी ने कुछ सिपाही जुटा कर किसी किले पर तूफानी हमला कर दिया हो।

जहां तक प्रस्तुतकर्ता डा० सुरेश सिनहा का प्रश्न है, उन्होंने अपनी कमसिनी का इजहार कर दिया है, गो वह भी बड़े पिटे-पिटाये और भोंडे ढंग से हुआ है—कि अश्क जी मुझसे ही कहने लगे कि मैं तुम्हारे पिता डाक्टर सुरेश सिनहा से मिलना चाहता हूँ। सुरेश सिनहा ने अश्क में अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विलयन कर दिया है, और उनके राग-द्वेष तक अपना लिये हैं। तभी उन्होंने भैरवप्रसाद गुप्त पर लगभग अश्क के ही शब्दों में प्रहार कर दिया है।

समकालीन कहानियों पर विचार करते समय अश्क ने स्पष्ट कह दिया है कि मैं आलोचक नहीं हूँ और न मुझे आलोचना की भाषा आती है मेरे मन में कहानियों के 'इम्प्रेशंस' ही हैं। साफ है कि हम पुस्तक में अश्क से कहानी पर कोई गंभीर विचारात्मक, आलोचनात्मक तथ्यों की अपेक्षा नहीं कर सकते। लेख और इंटरव्यू में एक अच्छे पाठक की, जो समकालीन लेखक भी है, प्रतिक्रियाएँ ही हैं। अश्क इस कारण प्रशंसा के पात्र हैं कि वे अपने हमउम्र लेखकों की ही नहीं, अपने से छोटे, बल्कि बिल्कुल ही नये लेखकों की कहानियाँ पढ़ते हैं, उन पर ध्यान देते हैं और तरुण, संघर्षशील, प्रतिभावान लेखकों को प्रोत्साहन देते हैं। ऐसा बहुत कम प्रौढ़ लेखक करते हैं। जिस 'स्वस्थ सामाजिक जीवनदृष्टि' को उन्होंने कहानी की कसौटी माना है, उससे शायद ही किसी का मतभेद हो। आरोपित संकट और यूरोपीय उदासी, वैयक्तिक कुंठा, घुटन और दिखाऊ अकेलेपन की प्रवृत्ति की भी उन्होंने सही आलोचना की है। उनकी इस बात से भी सहमति होगी कि दृष्टि चाहे जहाँ से ली जाय पर परिवेश वही होना चाहिए जिसे लेखक देखता और भोगता है। उन्होंने दलों और खेमों से ऊपर उठ कर आज की कहानी के मूल्यांकन का प्रयास किया है, यद्यपि कई प्रसंगों में उनकी साफगोई चातुर्यपूर्ण है।

मजे की बात यह है कि जिस पुस्तक से लेखकों में इतनी उत्तेजना है, उसमें कोई भी चौंकाने वाली बात नहीं कही गयी है। जिन कहानियों की अश्क ने तारीफ की है, वे वही कहानियां हैं जिनकी पिछले वर्षों प्रशंसा हो चुकी है। और जिन कहानियों की कटु आलोचना की है, वे किसी न किसी कारण से कमजोर मानी गयी थीं। कोई नयी स्थापना अश्क ने नहीं की, और न किसी नयी दृष्टि से ही कहानी का मूल्यांकन किया। बहुत सीधे सादे, बल्कि मोटे ढंग से, कहानियों को अच्छा और बुरा कहा है और कोई चीज अगर चौंकाने वाली है भी, तो उसका संबंध कहानी से न होकर कहानी की राजनीति से है। इस संदर्भ में कुछ दावे अश्क ने और प्रकाशक ने किये हैं और वे कुछ अंशों में पूरे भी हुए हैं। कहानी की राजनीति का इससे अच्छा परिचय मिल जाता है और लेखकों की आपसी खींचतान, जो छिपी थी, कुछ उभर कर आ गयी है। यों कुछ दावे खोखले भी हैं। 'शिखंडी प्रगतिशीलों' का पर्दा फाश करने का दावा किया गया है, पर अश्क या तो 'शिखंडी प्रगतिशीलों' को जानते नहीं

ह (जो नामुमकिन है) या जानते हैं तो परी फाग करते हिचकते हैं।

अश्क की दृष्टि की जिस सरलता का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसके कारण वे अति सरलीकरण के शिकार हो गये हैं। हर हिंदी कहानी उन्हें २५-३० वर्ष पहले उर्दू में लिखी गयी मालूम होती है। कुछ 'इम्प्रेशन' वे यह देते हैं कि पिछले १०-१२ वर्षों में हिंदी के लेखकों के हाथ कोई तथ्य नहीं पड़ा है और जो 'बात' आज हिंदी कहानी में लिखी जा रही है, वह २५-३० वर्ष पहले उर्दू में लिखी जा चुकी है। अश्क को बदले जीवन-संदर्भों से, नये परिवेश, नये संवेदन, नयी दृष्टि और नये बोध से कोई मतलब नहीं है। वे मोटी 'बात' पकड़ते हैं—'बात' से उनका मतलब अक्सर कथावस्तु से और कभी केंद्रीय संवेदन से होता है। इस 'बात' को ढूंढ कर, वे खास फिकरों में कहानी पर निर्णय दे देते हैं—'नख से शिख तक चौकस कहानी', 'चुस्त-दुरुस्त कहानी', 'निर्दोष कहानी' आदि। अगर मोटी 'बात' से ही कहानी अच्छी या बुरी अथवा नयी और पुरानी होती हो, तो जिस 'बेबसी' कहानी पर अश्क को नाज है, उसकी बात तो त्रेता युग की है। शूपनखा भी कामातुरा हो कर लक्ष्मण के पास आयी थी और अश्क की यह जाया भी कामातुरा हो कर, पुरुष के पास गयी है। अश्क अभी 'किस्सागोई' के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हुए हैं। इस संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि पिछले २५ वर्षों से कुछ खास उर्दू हिंदी के लेखक देश और विदेश में यह प्रचार करते रहे हैं कि भारत का सारा प्रगतिशील आंदोलन हम ५-६ लेखकों के कंधों पर ही रखा हुआ है। इन्हीं का यह भी विश्वास है कि जो लिखा जाने लायक था, वह तो हम लिख चुके, जो बचा है, वह भी हम ही लिखे देते हैं। तुम क्या खाक करते हो!

एक कहानी में दूसरी की अनुगूंज बताने का इतना उत्साह अश्क में है कि वे बेमेल मेल बिठा देते हैं। 'भगर चोधरी की वापसी' (जैनेंद्र) और दारा (श्रीकांत वर्मा) में कहा कोई समानता है? भारती की 'गुल्की बन्नो' में अश्क मात्र बच्चों के ऊधम से प्रभावित होते हैं और उसकी तुलना उर्दू की ऊधम वाली कहानियों से करने लगते हैं। यह बच्चों के ऊधम की कहानी नहीं है। अश्क के मन में यह बात क्यों नहीं गजती कि बच्चों द्वारा सतायी वह गंदी, कुरूप, तिरस्कृत बन्नो, ससुराल से लौटने वालों के आने पर एक शैतान लड़के को दो पैसे दे कर विदा का गाना गवाती है। मार्कंडेय की 'बदला' कहानी का अश्क ने आधार ही बदल दिया है। वह लड़की क्वारी है। वह पति को नहीं छोड़ती, प्रेमी से दूर जा बसती है और अपने ड्राइवर से यौन-संबंध स्थापित कर लेती है।

भारतीयता का आग्रह बड़ा प्रशंसनीय है। पर विश्वव्यापी विचारों और साहित्यिक प्रभावों के संदर्भ में हमें एकदम 'जंबू द्वीप' भी नहीं हो जाना चाहिए। भारतीयता का आग्रह जब संकीर्ण पवित्रतावाद तक पहुँच जाता है, तब वह वैसा ही लगता है, जैसा जनसंघ का यह नारा कि मार्क्सवाद विदेशी विचारधारा है। मेरा यह आशय भी नहीं है कि पश्चिम की हर पतनशील प्रवृत्ति को हम 'अंतर्राष्ट्रीयता' के नाम पर ग्रहण कर लें।

आशा थी कि कुछ पेचीदा प्रश्नों पर अश्क प्रकाश डालेंगे। पर देखता हूँ, या तो वे उन्हें टाल गये हैं या उन पर विचार ही नहीं किया। सुरेश सिनहा की जिज्ञासा कुछ है और

अश्क का जवाब कुछ और। दो उदाहरण काफी होंगे।

सुरेश——लेकिन आपने 'मिस पाल' (राकेश) को नयी कहानी बताया है।

अश्क——उस लिहाज से जनेंद्र की 'राजीव और उसकी भाभी' और 'रत्नप्रभा'; अज्ञेय की 'रोज' और 'हीलीबोन की बतखें', यशपाल की 'ज्ञानदान' और 'पराया सुख' और मेरी 'अंकुर' या 'उबाल' (यद्यपि ये सब पन्द्रह-बीस वर्ष पहले लिखी गयी थीं) कैसे नयी नहीं है?

आधुनिकता के प्रश्न का उत्तर भी बहुत दिलचस्प है

सुरेश——आप नये और आधुनिक मे भेद करते हैं या नहीं?

अश्क——नये और आधुनिक मे वही भेद है जो आधुनिक और आधुनिकतर मे या आधुनिकतर और आधुनिकतम मे। आधुनिकतम, आधुनिकतर और आधुनिक भी नया हैं। नया कुछ और नया हो कर आधुनिक तथा आधुनिक कुछ और आगे बढ़ कर आधुनिकतर और फिर 'तम' हो जाता है

यों अश्क की दृष्टि काफी सुलझी है और उदारता भी उसमे है। वे अच्छे लेखक के साथ अच्छ पाठक भी है। उनकी आलोचनाएँ कटु हो सकती है, मगर बहुत अशो मे सही है। पुस्तक अधिक उपयोगी हो सकती थी, अगर उसे 'हाट बुक' न बनाया जाता।

——हरिशंकर परसाई,
१५३३, नेपियर टाउन,
जबलपुर।

हम सब और वह

दयानंद वर्मा का निबंध-संग्रह। भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। सन १९६३। मूल्य २ ००।

एक छोटा सा संग्रह है, श्री दयानंद वर्मा के ९ लघु ललित निबंधो का। इधर हमारे यहाँ बेकन, रामचंद्र शुक्ल आदि की परंपरा मे लिखे गये जीवनानुभव-प्रधान निबंधो की कमी दीख रही है, सेमुएल स्माइल्स और डेल कार्नेगी की परंपरा मे लिखे गये प्रबंधो की कमी तो पहले भी थी। ऐसी स्थिति मे श्री दयानंद वर्मा का निबंध-संग्रह हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट कर लेता है।

श्री वर्मा के निबंध व्यक्ति-प्रधान न हो कर विषय-प्रधान है। वे आगमन-शैली (इंडक्टिव स्टाइल) के निबंधकार है। उनके निबंध, जो सभी के सभी चिंतन-प्रधान है, रोचक तथा मार्मिक तथ्यो के उल्लेख और, उनकी व्याख्या के सहारे आगे बढते हैं और, इस प्रक्रिया मे, उनका कथ्य बडे ही सहज भाव से उद्‌घाटित होता चलता है। उनके तथ्यो मे इतना सामजस्य, इतना सहकार दिखायी देता है कि उनका प्रत्येक निबंध किसी सुघड कहानी का मजा दे जाता है। यही कारण है कि ये निबंध एक साथ ही चिंतन-प्रधान और सुललित बन गये है।

बानगी लीजिए। संग्रह का प्रथम निबंध 'बेईमान का जीवन-दर्शन' यों आरंभ होता है——

"रेजगारी गिनने मे मुझसे भूल हुई और एक व्यक्ति को एक आना अधिक चला गया। वह आना उसने मुझे लौटा दिया। मैंने 'धन्यवाद' कहा लेकिन उसके लिए वह काफी न

था। वह आध घटे तक मुझ पर भाषण झाडता रहा—जिसका सार था कि उसके पास परमात्मा का दिया सब कुछ है। एक आना रख कर वह अमीर न बन जाता। अब भी जब कभी वह मुझसे मिलता है तो उस इकन्नी का जिक्र किये बिना नहीं रहता।

"एक दिन एक दूसरे व्यक्ति को मै एक रुपया अधिक दे बैठा। रुपया उसने भी लौटा दिया। उसके बाद मिला कई बार लेकिन कहा एक बार भी नहीं।

"पहले व्यक्ति ने एक आना लौटाने की घटना को अत्यधिक महत्व दिया। इससे प्रकट हुआ कि वह कृत्य उसकी ईमानदारी की हैसियत से ऊँचा था। इसलिए ईमानदारी की अचानक अनुभूति से वह आदोलित हो उठा।

"दूसरे व्यक्ति का एक रुपये का पुन जिक्र न करना प्रकट करता है कि वह सिक्का उसकी ईमानदारी के आदर्श के मुताबिक हेय था। ईमानदारी से प्राप्त आनद की अनुभूति उसके लिए नयी न थी।"

आये दिन की इस छोटी-सी घटना से कैसा रोचक निष्कर्ष निकाला गया है! वस्तुत श्री वर्मा के निबध मानव-मनोविज्ञान के घने परिचय और सामाजिक समस्याओ मे गभीर रुचि के साथ-साथ जीवन के विविध पक्षो के साक्षात गहरे अनुभव का प्रतिफल प्रतीत होते हैं। लेखक सामाजिक परिसर का सजग पर्यवेक्षक जान पडता है। यही कारण है कि वह छोटे से छोटे तथ्य से बडे से बडा सत्य उद्घाटित कर देता है। मजा तो यह है कि इसके बावजूद उसके निबध कही भी गरिष्ठ नही होने पाते, शैली रोचक से रोचकतर होती जाती है। कुछ और बानगी लें—

"उधार का भुगतान न करना चोरी की एक बाइज्जत किस्म है। चोर और उधार खा जाने वाले मे कोई मूलभूत अतर नहीं है, सिवाय इसके कि पहला नजर बचा कर सामान चुराता है, और खुद बाँध कर ले जाता है। दूसरा सामान को खुद नहीं बाँधता बल्कि लुटने वाले से बँधवा कर उसी की मदद से अपने कधे पर लदवा कर ले जाता है।"

"बेईमानो का कोई-न-कोई जीवन-दर्शन भी होता है, जिसे हर बेईमान स्वय बनाता है। उन्नीसवीं सदी का बदनाम ठग और कातिल अमीर अली अपने धधे को बिलकुल वैसा ही ईमानदाराना धधा समझता था जैसा किसान का हल चलाना, न्यायाधीश का न्याय करना और स्कूल मास्टर का बच्चों को पढ़ाना।"

हमारे यहा कभी चौर्यशास्त्र जैसा शास्त्र भी प्रणीत हुआ था। उसका प्रेरक हेतु भी वही जान पडता है जिसकी ओर लेखक ने इगित किया है।

सग्रह का द्वितीय निबध 'राष्ट्रीयता' शायद सबसे साधारण स्तर का निबध है। तृतीय निबध 'मनोवृत्तिया और धर्म' बहुत ही छोटा किंतु बहुत ही सशक्त बन पडा है। धर्म धर्म-प्रेमी की प्रकृति से पराभूत हो कर किस प्रकार उसकी टहल मे लग जाता है, इसका इसमे अच्छा चित्रण हुआ है। धर्म-प्रेमी यदि सैलानी स्वभाव का है तो वह तीर्थ-यात्रा जैसे नियमो पर बल देगा। यदि चोरी की लत वाला है तो वेदात का कोई अनुपम ग्रथ चुरा लायगा और मन लगा कर पढ़ेगा। यदि झूठ बोलने का आदी है तो अपने धर्म गुरु के चमत्कार के किस्से गढ़ने मे सिद्धहस्त होगा। यदि आडबरी है तो धार्मिक बाना पहन लेगा।

यदि आलसी है तो कर्म-ग्रंथा में से अकर्मण्यता को उचित ठहराने वाला गुण निकाल कर उसे ही जीवन-लक्ष्य बना लेगा। चौथा निबंध है 'शकुन-विचार'। पाँचवें निबंध 'एक उपेक्षित वरदान' में पुस्तकों के उपहार की समसामयिक भारत में हो रही उपेक्षा की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। इस उपेक्षा का फल है कि पुस्तकें कम छपती हैं, फलत लेखक पारिश्रमिक कम पाता है जिससे वह अपनी प्रतिभा को पूर्ण रूप से उजागर नहीं कर पाता। अंतिम परिणाम—मौलिक साहित्य की कमी, अनुवादों की भरमार, देश में बौद्धिक कंगाली। छठे निबंध 'भीख समस्या और निराकरण' में दाताओं के दंभ का खूब पर्दाफाश किया गया है। लाला जी 'गरीब-गुर्बा' को पैसे बाँटते हैं किंतु मजदूर की मजदूरी मार लेने के लिए हजार तरह के हथकंडे काम में लाते हैं। कभी गली में निर्धन बूढ़े को खोटा सिक्का दे कर तरकारी खरीदना कतई बुरा नहीं समझता, किंतु गली के नुक्कड़ पर भिखारियों की लाइन लगा कर भोजन बाँटना सवाब का काम समझता है। भिक्षा-वृत्ति हजारों बालकों के अपहरण और अंग-भंग के लिए उत्तरदायी है और समाज के इस कोढ़ को जितना ही जल्द समाप्त किया जाय उतना अच्छा। सातवें निबंध 'संयुक्त परिवार' में वैयक्तिक-परिवार-प्रणाली में बूढ़ों की दयनीय स्थिति की ओर विचारोत्तेजक संकेत किया गया है। आठवाँ निबंध 'हीनता की भावना या श्रेष्ठता की भावना' भी रोचक तथ्यों और कथ्यों से परिपूर्ण है। हीनता-ग्रंथि से पीड़ित व्यक्ति का चित्रण करते हुए कितनी पते की बात कही गयी है कि ऐसे व्यक्ति यदि विद्वत्ता प्राप्त कर लें तो भी अपनी प्रतिभा को स्वतंत्र रूप से प्रकट नहीं करते। यदि वे स्वावलंबन पर उपदेश देना चाहते हों तो किसी प्रसिद्ध विचारक के संदर्भ का अवलंब लेकर अपने वक्तृत्व को ओजपूर्ण बनाते हैं। अंतिम निबंध 'इच्छा-शक्ति और तर्क शक्ति' भी रोचक है।

श्री वर्मा के विचारों में मौलिकता की खोज व्यर्थ है। उनमें मौलिकता जैसी कोई भी चीज नहीं। शायद उन्हें मौलिकता का आग्रह भी नहीं है। दैनंदिन सत्यों को उजागर करना ही उनके निबंधों का उद्देश्य जान पड़ता है।

संग्रह की भाषा सरल है, लगभग बोल-चाल की। उर्दू शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। कुछ अशुद्धियाँ हैं जिन्हें अगले संस्करण में ठीक हो जाना चाहिए। 'सहजगमद' जैसा प्रयोग खटकने वाली चीज है।

—भुवनारायण
सी ४२१५९, रामरतन वाजपेयी मार्ग,
नयी नरही, लखनऊ-१।

हिंदी जगत

सक्रिय सेवा के संकेत

आज से लगभग पंद्रह वर्ष पहले भारतीय संविधान के चालू होते ही 'सरस्वती' में हिंदी साहित्य के सर्वांगीण विकास और भाषा के व्यापक प्रचार की ब्योरेवार योजना प्रकाशित हुई। लगभग एक वर्ष पश्चात योजना का अपेक्षाकृत संक्षिप्त संस्करण उसी पत्रिका में 'सक्रिय सेवा की रूपरेखा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। परंतु जिन संस्थाओं—नागरी प्रचारिणी सभा और हिंदी साहित्य सम्मेलन—द्वारा यह सेवा हो सकती थी, वे पारस्परिक झगड़ों की शिकार हुईं और आज की स्थिति यह है कि दोनों संस्थाएँ केंद्रीय शासन का सहारा पा कर भी सेवा के लिए यथेष्ट उमंग से सक्रिय नहीं हो पायी हैं।

मौलिक प्रश्न यह है कि जनता में हिंदी अपनाने का कितना उत्साह है, विद्यालयों के शिक्षकों में हिंदी-सेवा की कितनी उमंग है, हिंदी-सेवी संस्थाएँ ही हिंदी साहित्य के अविकसित अंगों के विकास के लिए कितनी सक्रिय हैं, कितने शिक्षाविदों को दिखता है कि विद्यालयों से हिंदी की यथेष्ट योग्यता प्राप्त कर के भी अधिकांश शिक्षित हिंदी के प्रकाशन नहीं पढ़ते, निजी पुस्तकालयों के लिए उनमें चाव जाग्रत नहीं होता। इन सब प्रश्नों के रचनात्मक हल से विमुख रह कर दलीय नेता जिस प्रकार हिंदी की हिमायत करते हैं, उससे विरोधियों की संख्या बढ़ती ही है, हिंदी का पक्ष पुष्ट नहीं होता।

पहली भूल प्रशासन की ओर से तब हुई जब प्रशासन में हिंदी को जगह देने के लिए उसने हिंदी के व्यावहारिक प्रयोग पर पारिभाषिक शब्दों के निर्माण को वरीयता दी। चाहिए था कि संविधान के प्रभावकारी होते ही हिंदीभाषी राज्यों के अधिकारियों और कर्मचारियों को आज्ञा दे दी जाती कि जिस अंग्रेज़ी-मिश्रित हिंदी का प्रयोग वे अपनी बोलचाल में किया करते हैं उसी का प्रयोग उन्हें अपनी मिस्लों और चिट्ठियों में भी करने की छूट है, परंतु वे हिंदी का प्रयोग तुरंत आरंभ कर दें। यदि प्रशासन पारिभाषिक शब्दों की कीचड़ में न फँसता और खिचड़ी हिंदी ही का प्रयोग प्रारंभ हो जाता, तो आज तक केंद्र में भी अधिकांश काम हिंदी में होने लगता। पारिभाषिक शब्दों के जाल में फँसने पर सरकारी हिंदी दुरूह ही हुई है, सुबोध नहीं हो पायी है। उदाहरणार्थ, 'इंजीनियर' शब्द अपढ़ देहातियों की समझ में भी आता है। उसकी जगह अब 'अभियंता' शब्द का प्रयोग होता है। विधान सभा का कोई सदस्य कुछ समय के लिए उपस्थिति से वंचित किया जाता है तो 'निलंबित' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ जनसाधारण की समझ के बाहर है।

जापानी अपनी भाषा के कम भक्त नहीं। जिस प्रकार जाग्रत हो कर हमने पाश्चात्य विज्ञान अपनाना शुरू किया है, उसी प्रकार आज से सौ वर्ष पहले अपने सम्राट मेजी के नेतृत्व

मे उन्होंने पाश्चात्य विज्ञान यूरोपीयो से सीखना प्रारभ किया। उनके प्रथम विदेशी शिक्षक उन्हे अपनी भाषा मे पढाते थे तो उनके बताये पारिभाषिक शब्दो को अपनाते हुए उसके अर्थ जापानी शिष्य अपनी भाषा मे ही समझते थे। यह कैफियत उनके प्राविधिक विद्यालयो मे मैंने सन १९३६ मे देखी जब जापान शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर था। देश के स्वतत्र होने पर यही रवैया हमारे विद्यालयो को अपनाना चाहिए था। पारिभाषिक शब्दों को सस्कृत से उधार लेने के चक्कर मे न पडते। हिंदीभाषी राज्यो के विश्वविद्यालयो मे शिक्षा और परीक्षा उसी खिचडी हिंदी से प्रारभ कर दी जाती, जो अग्रेजी पढे-लिखे विद्यार्थी और शिक्षक बोलने के आदी है।

दिल्ली-आगरा और मथुरा-काशी की बाजारो और गलियो मे व्यवहृत हिंदी अब कश्मीरी श्रीनगर से सुदूर दक्षिण के कन्याकुमारी तक समझी जाने लगी है। भारत का कोई ऐसा बडा नगर नही, जहाँ हिंदी के चलचित्र चालू न हों, जहाँ रेडियो पर हिंदी गीतो के शौकीनो की यथेष्ट सख्या न हो। मद्रास और बगाल राज्यो के राजनीतिक मचो से कभी-कभी हिंदी विरोधी वक्तव्य प्रसारित होते है, परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि वहाँ भी हिंदी सीखने वालो की सख्या बढ रही है। अहिंदीभाषी भारतीय होनहारो मे हिंदी सीखने की उत्सुकता बढती जा रही है, परन्तु हिंदीभाषी राज्यो मे हिंदी के अधिकाश हिमायतियो की कथनी और करनी मे हमे भेद दिखता रहता है। अहिंदीभाषी हिंदी सीखने को उत्सुक है, परन्तु हिंदीभाषी राज्यो के विद्यालयो मे त्रैभाषिक नियम के लागू किये जाने पर भी बगला या तमिल सीखने वालो की

हिंदी साहित्य के सर्वांगीण विकास के लिए जरूरी है कि हिंदीभाषी राज्यो के शैक्षिक नेता हमारे विद्यालयो की शिक्षा-प्रणाली की उन दोषो से मुक्ति का नेतृत्व करे जिनके परिणामस्वरूप हमारे होनहार हिंदी जान कर भी हिंदी पत्र-पत्रिकाओ और पुस्तको के प्रेमी नही बन पाते। इस मुक्ति का नेतृत्व करने के लिए उन्हे हिंदी भाषा के भाडार मे सहयोगी भाषाओ के शब्दो की भरती बढानी है, भाषा को साहित्य पर वरीयता देनी है, अहिंदीभाषियो की हिंदी के प्रति अपनी उदारता बढानी है और क्षेत्रीय भाषाओ के अध्ययन का प्रचार करना है। भारी पाठ्य पुस्तके, उनका आधिक्य और उनकी रटाई तथा शिक्षक के प्रति अविश्वास पर आधारित सार्वजनिक परीक्षाएँ साहित्य के सर्वांगीण विकास के लिए घातक है, क्योकि शिक्षा-प्रणाली के ये दोष विद्यार्थी को पुस्तक से घृणा करना सिखाते है। भारत के बाहर हमारे सामने कई उन्नतिशील देशो के उदाहरण है, जहा उनकी भाषाओ की पत्र-पत्रिकाओ और पुस्तको के ग्राहको की सख्या लाखो के ऊपर जाती है। हमारे शिक्षाविदो को सुधार के सबक इनसे लेने है।

सुधार के साथ ही सगठित प्रचार भी जरूरी है। इसके लिए हिंदी के लेखको, प्रकाशको, शिक्षको और राजनीतिक नेताओ को हिंदी के मच पर सगठित हो कर वह योजना सक्रिय करनी है जिससे सत्साहित्य का प्रकाशन ही न बढे, उसकी बिक्री से प्रकाशक लाभान्वित हो और लेखक भी। चलचित्रो और घरो की भीतरी सजावट पर जब व्यय की मात्रा बढ रही है तब निजी पुस्तकालय बनाने का फैशन क्यो न चलाया जाय? अपने घरो पर लोग नेताओ को आमत्रित करते है, वहा घर की सजावट से उनका परिचय कराया जाता है, तो क्यो न नेता जी

अपने जानिबेय से पुस्तको की चर्चा छेड दे, निजी पुस्तकालय देखने की उत्सुकता भी प्रकट करे।

निजी पुस्तकालय तो जेब से खर्च करने पर बनता है और उसकी पुस्तकों का पठन-पाठन घर के सदस्यों तक सीमित रहता है। इसके विपरीत, सार्वजनिक और विद्यालयो मे सबद्ध पुस्तकालयो का सेवा क्षेत्र कही अधिक विस्तृत है, उनके निर्माण और विकास पर प्रबन्धक या प्रधान अध्यापक की जेब से कुछ जाता नही। अतएव यदि हिंदीभाषी राज्यो के पुस्तकाध्यक्ष और प्रधान अध्यापक ही प्रचार के लिए सगठित हो जाय तो उपयोगी पुस्तको की बिक्री हजारो तक पहुँचनी निश्चित है।

यह हृदयगम करना भी आवश्यक है कि इस देश मे अध्ययन, ज्ञानार्जन के लिए नही, स्वात सुखाय नही, रोजी के लिए होता है और सरकारी नौकरी ही रोजी का प्रमुख साधन है, तो लोकसेवा आयोगो की ओर से जो परीक्षाएँ होती है उनमे हिंदी माध्यम को केंद्रीय तथा हिंदीभाषी राज्यो की नौकरी के लिए मान्यता मिलने के साथ ही हिंदी भाषा—साहित्य नही—की परीक्षा केंद्रीय नौकरी के लिए अनिवार्य हो, परतु आदेश रहे कि प्रत्याशियो को अग्रेजी के पारिभाषिक शब्द प्रयोग करने की छूट मिलेगी और उनकी लिंग सबधी भूले क्षम्य रहेगी। इस ओर हिंदी के हिमायतियो का प्रयत्नशील होना अत्यावश्यक है।

कथनी और करनी से हमे यह सिद्ध करना है कि हिंदी का भविष्य क्षेत्रीय भाषाओ के विकास से सबद्ध है और ज्ञानार्जन के लिए अग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओ की जानकारी जरूरी है, परतु राष्ट्रीय एकता की सिद्धि के लिए, जन शिक्षण की स्तरोन्नति के लिए भी, हिंदी ज्ञान की राष्ट्रीय व्यापकता आवश्यक है।

क्षेत्रीय भाषाओ का विकास होते रहना आवश्यक है। रूस के बाहर यूरोपीय भाषाओ को रोमन लिपि की एकता प्राप्त है, तो भारत मे देवनागरी लिपि की एकता के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। सस्कृत के लिए देवनागरी लिपि ही के प्रयोग के कारण अतर्राष्ट्रीय मान्यता प्राप्त है। सर्वोच्च अध्ययन के क्षेत्र मे सस्कृत की प्रमुखता सारे भारत मे है।

मराठी ने देवनागरी लिपि अपना ही ली है, अधिकाश भारतीय देवनागरी लिपि से परिचित है और थोडे-बहुत सशोधन के पश्चात यह लिपि सभी क्षेत्रीय भाषाओ के व्यक्तियो के लिए सक्षम हो सकती है इसलिए लिपि की एकता का प्रचार, राष्ट्रीय एकता की ओर हमारा पहला पग होना चाहिए।

अब पश्चिमी पाकिस्तान मे फारसी लिपि से सबद्ध उर्दू को मान्यता प्राप्त है और पूर्वी पाकिस्तान बँगला अपनाये हुए है। लिपि-परिवर्तन की ओर उर्दू, पजाबी और बँगला के साहित्यिक पहल करे। पजाब और बगाल मे देवनागरी लिपि की व्यापकता होने पर, उर्दू साहित्य के देवनागरी लिपि मे प्रकाशित होने पर, पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान के निवासियो को भी देवनागरी लिपि के पक्ष मे प्रेरणा मिलेगी। अततोगत्वा उस विष से देश का मुक्त होना है जिसके परिणामस्वरूप इसका राजनीतिक विभाजन हुआ है। इस मुक्तिमार्ग के पहले पग सास्कृतिक ही होने है और इन पगो का अग्रिम नेतृत्व देश के उर्दू, पजाबी तथा बगाली साहित्यिको को करना है।

बापू और हिंदी

सन उन्नीस सौ उन्नीस। उत्तर प्रदेश का दौरा करते हुए बापू लखनऊ पहुँचे। लखनऊ विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने उन्हें एक थैली और मानपत्र अर्पित किया। उत्तर प्रदेश की यात्रा के मध्य पहली बार बापू को यह मानपत्र अंग्रेजी में दिया गया था। हिंदी का केंद्र प्रदेश, और अंग्रेजी में मानपत्र!

बापू समझ नहीं पाये कि वह मानपत्र है या अपमानपत्र? वे उत्तर देने के लिए उठे और भर्राये स्वर में बोले, "मैंने सुना था कि जब सब लोग सोते रहते हैं तब लखनऊ के लोग जागरण करते हैं और जब अन्य लोग जागते है, तब लखनऊ वाले सोने की तैयारी करते हैं। इसका साक्षात प्रमाण तो मुझे आज ही मिला है। जब समस्त भारत के विद्यार्थी-जगत में जागृति की लहर बह रही है, लखनऊ के विद्यार्थी घोर निद्रा में बेसुध हैं।

"यदि आपको भारत के स्वराज्य संग्राम में सच्चा सिपाही बन कर हाथ बँटाना है, तो याद रखिए कि मातृभाषा-प्रेम उत्पन्न किये बिना आप अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकेंगे। मातृभाषा और मातृभूमि-प्रेम दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। आप को स्मरण होगा कि जब जनरल बोथा (बोअर सेनापति) को बातचीत के लिए इंग्लैंड बुलाया गया, तब उसने सम्राट के साथ अंग्रेजी में नहीं, डच भाषा में वार्ता की थी और वह भी दुभाषिये के द्वारा। जनरल बोथा अंग्रेजी भी जानते थे। किंतु इस प्रकार वार्ता करने से उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई, और आखिर वे अपने देश के लिए स्वतंत्रता प्राप्त कर के ही वापस लौटे। मैं चाहता हूँ कि जनरल बोथा का यह अनुकरणीय उदाहरण आपको प्रेरणा प्रदान करे।"

जब राजा जी हिंदी के समर्थक थे

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, देश के जाने-माने कूटनीतिविद, आज राष्ट्रभाषा हिंदी के कट्टर विरोधी बन बैठे हैं। किंतु १९३७ में लोकप्रिय प्रांतीय सरकारों के निर्माण के समय जब वे मद्रास के मुख्य मंत्री थे, उस समय उनके मन में हिंदी के विरोध की कल्पना भी नहीं थी। विश्वास न हो तो दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा द्वारा प्रकाशित 'हिंदी-तमिल स्वबोधिनी' पुस्तक में राजा जी द्वारा लिखी गयी भूमिका के निम्नलिखित अंश पढ़ लीजिए। क्या भारतीय राजनीति के भीष्मपितामह अपने ही इन विचारों को दुबारा पढ़ने का कष्ट करेंगे?

राज-भाषा

यदि प्रशासन उस भाषा में चलाया जाय जो उस देश के शासितों की भाषा न हो तो, जन-अभिलाषा की पूर्ति कैसे होगी? आप उस सरकार को जनता की सरकार कैसे कह सकते है, जिसके प्रतिनिधि एकत्रित हो कर संसद में एक विदेशी भाषा में तकरीर करें, या जिसकी कार्य-पालिका अपना प्रशासन उस भाषा में चलाये जो जनसाधारण की समझ से परे हो। यदि प्रतिनिधिगण अपने निर्वाचकों की भावना के अनुरूप आचरण करना चाहते हों, और यदि सरकार अपने नागरिकों की रुचि का सच्चा प्रतिनिधित्व करना चाहती हो, तो यह आवश्यक है कि राष्ट्र में एक सर्व-सामान्य भाषा होनी

चाहिए। ऐसा न हुआ तो किसी भी सरकार की कार्य पालिका निरंकुश राजतंत्र का रूप ले लेगी और जनता यथार्थ शक्ति के अभाव में पंगु हो जायगी। अंततः ऐसी सरकार की कार्रवाइयां एक विचित्र रहस्य या अनबूझ पहेली बन जायेंगी, जैसा कि आजकल हो रहा है।

यदि शासकीय भाषा समिति द्वारा भली-भांति समझी जायगी तो राष्ट्र के राजनीतिक शरीर में सिर से पैर तक स्वस्थ रुधिर का वास्तविक प्रवाह होगा और इससे एक स्वस्थ वातावरण एवं परिस्थिति का प्रादुर्भाव होगा। ऐसा न हुआ तो राजनीतिक जड़ता और अन्य रोग राष्ट्र का दबे पांव पीछा करेंगे।

अब एक सार्वजनीन अखिल भारतीय भाषा के निर्वाचन की आवश्यकता हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाती है। चूंकि हमारे देश में एक भी भाषा ऐसी नहीं है कि जिसे तीस करोड़ देशवासी समझते हों इसलिए सही और स्वाभाविक तरीका यह होगा कि अखिल भारतीय (केंद्रीय) भाषा के रूप में हम उसे चुनें जो अधिकांश जनता द्वारा बोली, समझी जाती हो। यह कहने की जरूरत नहीं रह जाती कि जिन्हें सरकारी नौकरी करनी है उन्हें यह भाषा सीखनी ही चाहिए। जिन क्षेत्रों में यह भाषा व्यवहृत नहीं होती उन क्षेत्रों के आंतरिक प्रशासन में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग होगा। फिर भी वहाँ के केंद्र संबंधी कार्यकलाप और केंद्र तथा उसके पारस्परिक वार्ता का माध्यम वह सर्वसामान्य भाषा ही होगी। मोटे तौर से आज अंग्रेजी को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान राष्ट्रभाषा को प्राप्त होगा।

अंग्रेजी

जो अंग्रेजी में निष्णात हैं उनकी यह धारणा हो सकती है कि स्वतंत्रता के बाद भी यह भाषा पूर्ववत चलती रहेगी। किंतु उनकी यह धारणा वैसी ही है जैसे एक रोगी अपने लिए वर्जित भोजनों में सभी का उपभोग करना चाहे। भारत में उन लोगों की संख्या केवल बीस लाख है जो अंग्रेजी में लिख पढ़ सकते हैं। यदि अंग्रेजी शासकीय भाषा बनी रही तो सारी शक्ति स्वभावतः इसी अल्पमत के हाथ में आ जायगी। शेष करोड़ों लोगों का निश्चय ही प्रशासन में कोई हाथ न रहेगा। इसका मतलब यह होगा कि वे अपने न्यायपूर्ण अधिकार से वंचित कर दिये जायेंगे। यद्यपि प्रांत अपना प्रशासन प्रांतीय भाषाओं में चला सकते हैं, किंतु यदि केंद्र अपने कार्यकलापों का आदान प्रदान अंग्रेजी में करता रहा तो उसका शासन देखने में तो प्रजातांत्रिक होगा किंतु वास्तव में यह एक वर्ग विशेष का निरंकुश तंत्र हो कर रह जायगा।

सभी के अनुकूल

भारत की भाषाओं में कौन सर्वसामान्य और प्रशासकीय भाषा होने योग्य है? इसमें कोई संदेह नहीं कि मात्र हिंदी ही यह पद ग्रहण कर सकती है। विद्वान, देशभक्त और सरकारी प्रशासन में दक्ष लोग सभी इसी निर्णय पर पहुँचे हैं। यहां तक कि कांग्रेस का प्रस्ताव और पंडित नेहरू की योजना भी हिंदी का ही समर्थन कर रही है।

भारत में पैंतीस करोड़ लोगों में से सत्रह करोड़ लोगों की मातृभाषा हिंदी ही है। पंद्रह करोड़ भारतीय इस भाषा को समझ सकते हैं, यद्यपि उन्हें उसकी शिक्षा रंचमात्र भी नहीं मिली है। बंगाली और उसकी सहायक भाषाओं को बोलने वाले ६ करोड़ हैं। मराठी और गुजराती ३ करोड़ जनता की भाषा है। तमिल,

तेलुगु, कन्नड, मलयालम और तुलू भाषाओं के बोलने वाले ६ करोड़ हैं। इस तरह सारे देश की सर्वसामान्य भाषा का स्थान ग्रहण करने के लिए हिंदी सर्वथा उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त मराठी, गुजराती और बंगला बोलने वाली ९ करोड़ जनता हिंदी को आसानी से सीख सकती है। तामिलनाड की सीमाओं को पार कर के आप उत्तर की ओर बढ़ेंगे तो हिंदी ही वार्तालाप का एकमात्र माध्यम रह जायगी। इस तरह हिंदी बहुसंख्यक भारतीयों की मातृभाषा होने के कारण शासकीय भाषा का स्थान ग्रहण करने के उपयुक्त है।

यदि दक्षिण के लोग इस भाषा को नहीं सीखते तो निश्चय ही वे केंद्र की सरकार और राष्ट्रव्यापी कार्यकलापों में भाग लेने से वंचित रह जायेंगे। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि वे भारतीय समाज में अपने जन्मसिद्ध अधिकारों को खो बैठेंगे।

भारत एक है इसे विभाजित न होने दो

यह तो हुए राजनीतिक और प्रशासकीय कारण। किंतु जीवन केवल राजनीति या प्रशासन ही तो नहीं है। सभ्यता, संस्कृति, परिष्कृत कलाओं और उदार दृष्टिकोण का प्रसार भी सारे देश में होना चाहिए। जनता को प्रांतीयता के संकीर्ण दायरे से उठ कर उच्च, समृद्ध जीवन-यापन करने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि संकीर्ण प्रांतीयता और वर्गवाद को प्रश्रय दिया गया तो हमारी सभ्यता, संस्कृति, व्यापार और जीवनविधि भी संकीर्ण हो जायगी। विभाजन को रोकने का एकमात्र अनिवार्य तरीका यही है कि सारे देश में एक सर्वसामान्य भाषा प्रचलित हो। दक्षिण के शिक्षित लोग सारे भारत में अपनी चतुरता और दक्षता तभी प्रमाणित कर सकेंगे जब वे हिंदी सीख लेंगे। हिंदी सीख लेने के बाद दक्षिण ख्याति प्राप्त करेगा और उसे नया जीवन और नयी शक्ति मिलेगी।

जीविका का साधन

अब हमें जीविका के साधन की ओर देखना चाहिए। हमारे देश के लाखों लोगों में यह चलन है कि वे परिवार के प्रधान का व्यवसाय सीख लेते हैं। किंतु अन्य लोगों के लिए, जो शिक्षा प्राप्त कर व्यवसाय की तलाश में अपना प्रांत छोड़ कर बाहर जाना चाहते हों, यह आवश्यक है कि वे अन्य कलाओं के साथ हिंदी भी पढ़ लेते हों। यदि कोई हिंदी में वार्तालाप कर सकता है और इसमें लिख सकता है तो वह भारत में कहीं भी जा कर नौकरी की तलाश और उसकी प्राप्ति कर सकता है। हिंदी की शिक्षा युवकों को नौकरी प्राप्त कराने में सहायक हो सकती है।

विश्व-संपर्क की सशक्त भाषा

अभी तक हमने हिंदी की चर्चा की। अब यह देख लेना भी उपयुक्त है कि स्वतंत्र भारत में उस अंग्रेजी का स्थान क्या है जिसे हमने अभी तक पढ़ा है। भविष्य में हमारे राष्ट्र को अन्य देशों से भी संपर्क स्थापित करना पड़ेगा। अतएव यह अनिवार्य है कि हमारे शिक्षार्थी अंग्रेजी का भी ज्ञान प्राप्त करें क्योंकि यह विश्व-व्यापार और अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के लिए उपयोगी है। हम विश्व के अन्य देशों से संपर्क स्थापित न कर सके तो मिट जायेंगे। इस दृष्टि से आवश्यक है कि हम अपनी शिक्षा प्रणाली में एक पश्चिमी भाषा को भी सम्मिलित करें। यह भाषा अंग्रेजी ही हो सकती है। किंतु हमें इसे प्रमुख रूप में नहीं स्वीकार करना है, जैसा

कि हम आज कर रहे है। यही बहुत होगा कि उसे पढ, लिख और बोल ले।

अनेक भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य

अतएव हमारे पाठ्यक्रम म तमिल मातृभाषा के लिए तमिल, पडोसी प्रातो को समझने के लिए एक अन्य दक्षिण भारतीय भाषा, देश के लिए हिंदी, अन्तर्राष्ट्रीय सबधो के लिए अग्रेजी और पूर्वजो के ऋण से मुक्त होने के लिए सस्कृत सम्मिलित की जानी चाहिए। हमारे युवको को भी अन्य सभ्य देश के लोगो की तरह चार-पाच भाषाओ का लिखना, पढना और बोलना सीख लेना चाहिए। यह कुछ कठिन भी नही है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि सभी स्कूलो मे सभी विद्यार्थियो को अनिवार्य हिंदी पढायी जाय तो इसे पढाने के लिए पर्याप्त शिक्षक कहा से प्राप्त होग। दक्षिण मे बहुत से लोग है जिन्होने दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा द्वारा सचालित विशारद परीक्षा पास कर ली है। यह हिंदी की उच्च श्रेणी की परीक्षा है। विशारद उत्तीर्ण परीक्षार्थियो की सख्या को देखते हुए यह कठिनाई नही उपस्थित हो सकती। और यदि आवश्यकता पडी तो हम उत्तर से बहुत सारे हिंदी के शिक्षक बुलवा सकते है। हम अपने ही प्रातो म ऐसे बहुत से शिक्षक प्राप्त कर सकते है, जिनकी मातृभाषा हिंदी है। हिंदीभाषी प्रातो मे बहुत से शिक्षित और उपाधिधारी लोग बेकारी के शिकार है। इसलिए उनकी सेवाएँ प्राप्त कर लेना कुछ कठिन न होगा।

दक्षिण मे जब तक जन-साधारण की ओर से आदोलन या माग न छेडी जायगी, यहाँ का कोई शिक्षामत्री या शासकीय अधिकारी हिंदी का अनिवार्य शिक्षण प्रारभ करने के लिए आगे नही आयगा। सपूर्ण अर्थों मे देश की सच्ची प्रगति के लिए हमे बडे पैमाने पर हिंदी के अनिवार्य शिक्षण के लिए आदोलन चलाना चाहिए।

—सात्यकि

हिंदी भाषा और साहित्य की श्रीवृद्धि में
उत्तर प्रदेश सरकार की
हिंदी समिति
का
महत्वपूर्ण योगदान

विभिन्न साहित्यिक एव उपयोगी विषयो पर प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा लिखित तथा अनूदित १०० से अधिक उच्चस्तरीय ग्रंथ प्रकाशित।

१ **गुजराती साहित्य का इतिहास**---लेखक श्री जयत कृष्ण हरे कृष्ण दवे, डबल क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ सख्या ३४६, मूल्य ६ रु० ५० पै०।

२ **अंग्रेजी साहित्य का इतिहास**---मूल लेखक श्री विलियम हेनरी हडसन, अनुवादक श्री जगदीश बिहारी मिश्र, डबल डिमाई सोलह पेजी, पृष्ठ सख्या ३८०, मूल्य ७ रु०।

३ **तेलुगु साहित्य का इतिहास**---लेखक श्री बालशौरि रेड्डी, डबल क्राउन सोलह पेजी, पृष्ठ सख्या ३३१, मूल्य ६ रु०।

४ **पालि साहित्य का इतिहास**---लेखक महापंडित राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ सख्या ३२२, डबल क्राउन सोलह पेजी, मूल्य ५ रु०।

५ **रूसी साहित्य का इतिहास**---लेखक श्री केसरी नारायण शुक्ल डबल क्राउन सोलह पेजी, पृष्ठ सख्या ४१३, मूल्य ७ रु०।

सुदर छपाई। आकर्षक गेटअप और सुदृढ जिल्द। पुस्तकों की खरीद, सूची पत्र तथा विशेष जानकारी के लिए निम्नलिखित पते पर लिखिए :—

सचिव
हिंदी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश शासन
लखनऊ

सम्मेलन द्वारा प्रकाशित

१९६४-६५ के उत्कृष्ट प्रकाशन

१	राज-भाषा हिन्दी	सेठ गोविन्ददास	२ ००
२	हिन्दी आन्दोलन	स० लक्ष्मीकान्त वर्मा	४ ५०
३	स्वतन्त्रता पूर्व हिन्दी के सघर्ष का इतिहास	श्री रामगोपाल	६ ००
४	दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास	डा० श्रीराम शर्मा	१२ ००
५	आधुनिक हिन्दी कविता मे गीतितत्व	डा० सच्चिदानन्द तिवारी	९ ००
६	गढवाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन	डा० मोहनलाल बाबुलकर	८ ००
७	कबीर और कबीर पंथ	डा० केदारनाथ द्विवेदी	१२ ००
८	प्रागन कृत भँवर गीत	स० श्री हरिमोहन मालवीय	१ ५०
९	बालचन्द बत्तीसी	स० श्री हरिमोहन मालवीय	१ ५०
१०	रसखान रत्नावली	डा० भवानी शकर याज्ञिक	५ ००
११	कुतुबन कृत मृगावती	स० डा० शिवगोपाल मिश्र	६ ००
१२	ब्रजभाषा रीतिशास्त्र ग्रथ कोश	श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी	६ ५०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

हिंदी ही क्यों ? अंग्रेज़ी क्यों नहीं ?

साहित्यवाचस्पति डॉ० सेठ गोविंददास की अमूल्य कृति

हिन्दी-भाषा-आन्दोलन

संकलनकर्ता

श्री लक्ष्मीचंद

- इस ग्रंथ में हिंदी-भाषा-आंदोलन के यशस्वी कर्णधार सेठ गोविंददास जी के भाषणों का प्रामाणिक संकलन है।
- इस ग्रंथ में हिंदी भाषा और साहित्य के विषय में सेठ जी के विचारों तथा दृष्टिकोणों का उल्लेखनीय समावेश है।
- इस ग्रंथ में राष्ट्रभाषा और राजभाषा जैसी जटिल समस्याओं के रचनात्मक सुझाव तथा समाधान सुगम शैली में प्रस्तुत किये गये है।

मूल्य : ९ रुपया

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक तथा मुद्रक रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग